POSITION OF WIDOWS IN NORTHERN INDIA FROM THE SEVENTH TO THE TWELFTH CENTURY

(In Hindi)
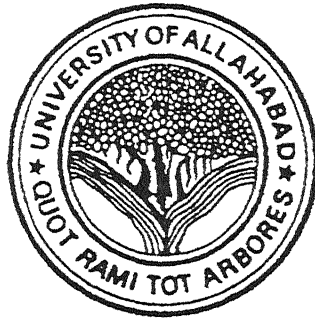
By

HEM LATA PANDEY

(Being a Thesis Submitted to the
University of Allahabad for the
Degree of Doctor of Philosophy in
Ancient History, Culture & Archaeology)

Supervisor

PROFESSOR B.N.S. YADAVA

प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि हेमलता पाण्डेय ने मेरे निर्देशन में शीर्षक "**POSITION OF WIDOWS IN NORTHERN INDIA FROM THE SEVENTH TO THE TWELFTH CENTURY**" विषय पर शोध कार्य, डी० फिल्० की उपाधि के लिए पूर्ण किया है। मैं यह भी प्रमाणित करता हूँ कि यह शोध-प्रबन्ध इनकी स्वयं की मौलिक कृति है।

BMS Yadava

प्रो० (डॉ०) बी० एम० एस० यादव
(पर्यवेक्षक)
पूर्व विभागाध्यक्ष,
प्रांचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

विषय-सूची

- प्रस्तावना 1-15

1. विधवा 16-31
2. विधवाओं की सामाजिक, धार्मिक एवं राजपनीतिक स्थिति तथा उन पर आरोपित निर्योग्यताएं 32-70
3. विधवा के साम्पत्तिक अधिकार 71-105
4. विधवा : पुनर्विवाह तथा नियोग 106-148
5. सती-प्रथा 149-200
6. उपसंहार 201-217

- चयनित स्रोत-सामग्री 218-235

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय समाज में परिवार की अद्‌भुत प्रतिष्ठा के कारण विवाह के संस्कार एवं गृहस्थाश्रम को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परिणामतः स्त्री के सन्दर्भ में उसके पत्नीत्व को महत्वपूर्ण बताया गया है। पत्नी की भूमिका विवाह के उपरान्त पति के साहचर्य से प्रारम्भ होती है; किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नीत्व समाप्त नहीं होता। स्त्री की पहचान समाज में मृत व्यक्ति की विधवा के रूप में कायम रहती है। अतः पूर्व मध्यकालीन (लगभग 700 से 1200 ई० के) भारतीय समाज में नारी की वास्तविक स्थिति का ज्ञान तब तक अपूर्ण है, जब तक विधवा के रूप में उसकी स्थिति का मूल्यांकन नहीं किया जाता है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत विषय शोध के लिए चुना गया है। प्राचीन स्त्रोतों विशेषकर साहित्यिक साक्ष्यों से विधवाओं पर जो प्रकाश पड़ता है, उनमें इस बात पर सब एकमत हैं कि विधवाओं के सामाजिक एवं धार्मिक अधिकार पति की मृत्यु के पश्चात् छिन जाते थे तथा उन्हें अशुभ एवं अमंगलकारी माना जाता था।

यद्यपि नारी जीवन तथा उसके वैधव्य पक्ष पर प्रकाश डालने वाले बहुत से शोध कार्यों एवं पुस्तकों की रचना की जा चुकी है, तथापि विधवाओं की स्थिति पर श्रृंखलाबद्ध जानकारी प्राप्त नहीं होती है। इस विषय पर और अधिक विस्तार से अध्ययन की आवश्यकता है। इसी उद्‌देश्य को लेकर प्रस्तुत शोध करने का प्रयास किया गया है, जिसमें भारतीय सामाजिक इतिहास में स्त्रियों से सम्बन्धित नवीन अनुसन्धानों के प्रकाश में विचार किया गया है। साथ ही, सातवीं से बारहवीं शती ई० के साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्त्रोतों के आधार पर विधवाओं की स्थिति का आलोचनात्मक अध्ययन

करने का प्रयास किया गया है। इस काल में विधवाओं की स्थिति में कुछ महत्वपूर्ण उतार-चढ़ाव आए हैं। गहन अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को सातवीं से बारहवीं शती ई० के कालखण्ड में उत्तरी-भारत तक सीमित रखा गया है।

भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति पर जो कार्य आधुनिक समय तक किये जा चुके हैं; उनमें ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का मैरिज आफ हिन्दू विडोज; गंगा प्रसाद उपाध्याय का विधवा-विवाह मीमांसा; परीक्षित, शर्मा, दास का विधवा विवाह खण्डन; एडवर्ड थाम्पसन का सत्ती; मुकेश आहूजा का विडोव; टी० एन० किटलू का विडो इन इण्डिया; शोध-प्रबन्धों में डॉ० देवी प्रसाद तिवारी का प्राचीन भारत में विधवाएं; डॉ० सुधीर श्रीवास्तव का 'प्राचीन भारत में विधवाएं' ; श्रीमती अनुराधा का विधवा नारी के सामाजिक, धार्मिक जीवन के परिवर्तनशील आयाम 'इत्यादि महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रन्थ हैं।

इसके अतिरिक्त स्त्रियों की दशा पर लिखे गये सामान्य ग्रन्थ भी हैं, जिनसे विधवाओं की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। उनमें प्रो० बी० एन० एस० यादव का सोसायटी एंड कल्चर इन नॉर्दन इंडिया; जी० डी० बनर्जी का द हिन्दू लॉ आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन; जे० जे० मेयर का सेक्सुअल लाइफ इन एशियंट इण्डिया; इन्द्रा का द स्टेटस आफ विमिन इन एशिएण्ट इण्डिया; आर० एम० दास का विमिन इन मनु एण्ड हिज सेवन कमेंटेटर्स; अच्युतानन्द एवं गोदावरी घिल्डियाल का प्राचीन भारतीय स्मृतिकार और नारी; ए० एस० अल्तेकर का पोजीशन ऑफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन; मिस जयाल का स्टेटस आफ विभिन्न इन द एपिक्स कमलेश कुमार मिश्र का मनु, याज्ञवल्वय एवं उनके टीकाकारों की दृष्टि में भारतीय नारी भारती आर्य का स्मृतियों में नारी; एस विश्नोई का इकोनामिक स्टेटस आफ विमिन इन एन्शिएण्ट इण्डिया; पी०

वी० काणे का धर्मशास्त्र का इतिहास, इत्यादि के अतिरिक्त शोध-प्रबन्धों में गौरी रानी चटर्जी का सम एस्पेक्ट्स आफ द पोजीशन आफ विमिन इन एन्शिएण्ट इण्डिया; कुमुदलता सक्सेना का पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन इत्यादि आधुनिक ग्रन्थ हैं। इन विद्वानों के ग्रन्थों से विधवा की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है, किन्तु पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवेश में विधवाओं की स्थिति पर वगेषणात्मक अध्ययन की आवश्यकता बनी रही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया गया एक प्रयास है। विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध साक्ष्यों के तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया हैं जिसमें साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों को भी यथा सम्भव सहसम्बद्ध किया गया है। विधवा की स्थिति के सभी पक्षों पर विचार करने के उपरान्त यह दृष्टिगोचर होता है कि उसकी सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति में गिरावट आने के बावजूद उसके साम्पत्तिक अधिकार को कई धर्मशास्त्रकारों द्वारा मान्यता प्रदान की जाती है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय विधवा पर है, जिसके अन्तर्गत विधवा शब्द की व्युत्पत्ति एवं उनके वर्गीकरण आदि पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में विधवाओं की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति तथा उन पर आरोपित निर्योग्यताओं का समालोचनात्मक अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में पति के मरने के बाद से लेकर उसके सम्पूर्ण वैधव्य जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओं, खान-पान, श्रृंगार, केश, आभूषण इत्यादि के अन्तर्गत सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थों का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही विधवाओं के धार्मिक अधिकारों और

पुत्र की संरक्षिका के रूप में उनकी राजनीतिक भूमिका का भी विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय के अन्त में विधवाओं की मुंडन परम्परा का भी उल्लेख किया गया है।

तृतीय अध्याय में विधवा के सम्पत्ति के अधिकारों का विवेचन है। इस अध्याय में विधवा के आर्थिक अधिकारों के अन्तर्गत दायभाग की समीक्षा की गयी है। जिसमें पुत्रवती एवं पुत्रहीन दोनों परिस्थितियों में सम्पत्ति पर विधवा के अधिकार की समीक्षा की गयी है।

चतुर्थ अध्याय में विधवा पुनर्विवाह एवं नियोग की विवेचना की गयी है। इस अध्याय में पूर्ववर्ती काल में प्रचलित इन दोनों प्रथाओं को पूर्वमध्यकालीन स्मृतियों की टीकाओं एवं पुराणों में कलिवर्ज्य बताकर, उनको निषिद्ध किया गया है।

पंचम अध्याय सती प्रथा पर है। इसमें सती शब्द की व्युत्पत्ति एवं तत्कालीन उत्तर भारत में इसके उत्कर्ष के उत्तरदायी कारणों की समीक्षा की गयी है। इस प्रथा पर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों का भी आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ अध्याय उपसंहार है जिसमें प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सार प्रस्तुत किया गया है।

२० वर्ष की अधिक उम्र की महिलाओं का वर्गीकरण स्मृति ग्रन्थों में स्पष्ट नहीं मिलता है, किन्तु कतिपय कोशों में अधेड़ उम्र की विधवा को 'कात्यायनी विधवा'[१] कहा गया है। इसमें उनके वस्त्र को गेरुआ बताया गया है[२], जो उसके वानप्रस्थी होने की ओर इशारा करते हैं। वैदिक ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम की आयु ५०-७५ वर्ष कही गयी है। ७५ वर्ष की आयु वाली वृद्धा विधवा को यातिनी 'यति' विधवा कहा जाता था। धर्मपरक जीवन बिताने वाली विधवाओं को 'रण्डा' कह कर भी संबोधित किया गया है।[३]

विधवाओं का तृतीय वर्गीकरण चरित्र के आधार पर किया जा सकता है। किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का दर्पण एवं आधार उसका चरित्र होता है। इसी आधार पर विधवाओं को भी उनके चरित्र के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

चरित्र के आधार पर विधवा को 'साध्वी' और 'असाध्वी' विधवा कहा गया है। साध्वी विधवा को स्मृतिकारों ने शुभ और सभी के द्वारा वन्दनीय माना है।[४] ऐसी विधवा पवित्र आचरण का पालन करती थीं। अपनी इन्द्रियों को संयमित करते हुए, सांसारिक वस्तुओं को नश्वर समझती हुई, मोह माया से परे, ऊपर उठकर सांसारिक अवगुणों

---

१. द्रष्टव्य ऊपर पृष्ठ-११

२. द्रष्टव्य ऊपर पृष्ठ-११

३. तिवारी, डी० पी० प्रा० भा० वि० पृ० ७-८ से उद्धृत।

४. लोहित स्मृति, ५७७-६०२

को त्याग कर, ब्रह्म ज्ञान एवं ईश्वर भक्ति में अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करती थी। इन्हें ब्रह्मवादिनी विधवा भी कहते थे।

असाध्वी विधवा अपने नाम के ही अनुकूल साध्वी विधवा से भिन्न थी। ऐसी विधवा का आचरण साध्वी विधवा के आचरण की भाँति पवित्र नहीं था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित अध्याय में विधवाओं के धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं कोशों में उल्लिखित शब्द, उसकी उसके समानार्थक शब्द और आयु, विवाह एवं चरित्र के आधार पर उनका वर्गीकरण करके उसकी विशद विवेचना करने का प्रयास किया गया है।

❑❑

मूल स्त्रोत

7वीं से 12वीं शताब्दी के काल में, विधवाओं की स्थिति के विवेचन के लिये, सर्वप्रथम अध्ययन के प्रमुख स्त्रोतों का उल्लेख आवश्यक है। इनमें साहित्यिक ग्रन्थों, विदेशी यात्रियों के विवरणों एवं अभिलेख प्रमुख है। साहित्य किसी भी समाज का दर्पण होता है, क्योंकि साहित्य-लेखन पर तत्कालीन सामाजिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण साक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक है। साहित्यिक स्त्रोतों, स्मृतियों की टीकाओं एवं पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें हमारे सामाजिक जीवन से जुड़े हुए अनेक विधि-विधानों का उल्लेख मिलता है।

प्रारम्भिक स्मृतियों—मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, वृहस्पति, कात्यायन (100-600 ई०) आदि ने विधवाओं से सम्बन्धित कृत्याकृत्यों का विधान किया है, जिनसे विधवाओं की तत्कालीन स्थिति पर महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इन प्रारम्भिक स्मृतियों के अतिरिक्त कतिपय लघु स्मृतियाँ हैं, जिनकी रचना लगभग 600-900[1] ई० के बीच की गयी थी। इनमें मुख्यतः हारीत, अंगिरस, देवल, व्यास, शंख, दक्ष, प्रचेतस, आदि हैं। इनसे भी विधवाओं के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। पराशर स्मृति (600-900 ई०) से पूर्व मध्यकालीन विधवाओं के जीवन की कुछ महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। लघु शातातप स्मृति (600-900 ई०) से विधवा पुनर्विवाह के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

---

1. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 15

उपर्युक्त स्मृतियों के अतिरिक्त इन पर लिखी गयी टीकायें भी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इनमें मनुस्मृति पर भारुचि[1] (9वीं शती का प्रथमार्ध) एवं मेधातिथि (825-900 ई०), गोविन्दराज (1080-1100 ई०), सर्वज्ञ नारायण (12वीं शती ई०) तथा कुल्लूक भट्ट (1150-1300 ई०) की टीकाओं से तत्कालीन विधवाओं की सामाजिक स्थिति एवं आलोच्यकाल में प्रचलित सती प्रथा के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गयी टीकाओं में विश्वरूप (800-850 ई०), विज्ञानेश्वर (1080-1100 ई०) ने अपनी टीका मिताक्षरा में एवं अपरार्क (1110-1130 ई०) की टीकाओं से भी विधवाओं की स्थिति एवं उनके सांपतिक अधिकारों पर प्रकाश पड़ता है। नारद स्मृति (100-400 ई०) पर असहाय (लगभग 750 ई०) की टीका तथा पराशर स्मृति पर रचित पराशरमाधवीय भाष्य (1300-1380 ई०) भी, यद्यपि बारहवीं शताब्दी के कुछ बाद का है, फिर भी पूर्व मध्य काल को कुछ परम्पराओं का क्रम बाद के काल तक चलता रहा और इस दृष्टि से प्रस्तुत सन्दर्भ में इस भाष्य का साक्ष्य भी विचारणीय हो जाता है।

टीकाओं के अतिरिक्त धर्म निबन्ध-साहित्य से भी विधवाओं के सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। इनमें लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु (1100-1130 ई०), जीमूतवाहन (1100-1150 ई०) का दायभाग, श्रीधर का स्मृत्यर्थसार (1150-1200 ई०), देवण्ण भट्ट की स्मृति चन्द्रिका (1200-1225 ई०) आदि महत्वपूर्ण है।

---

1. काणे, धर्मशास्त्र का इति० भाग 1, पृ० 68

नोट – समस्त तिथियाँ काणे के धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–1 पृ० 15

स्मृतियों के अतिरिक्त कुछ पुराणों से भी विधवाओं से सम्बन्धित जानकारियां मिलती हैं। इनमें मत्स्य पुराण (300-600) व वायु पुराण (300-600 ई०), ब्रह्माण्ड पुराण (400-600 ई०), गरुड़ पुराण (600-900 ई०), अग्निपुराण (600-900 ई०), ब्रह्मवैवर्त पुराण (7वीं शती ई०)[1] , वामनपुराण (700-800 ई० से पूर्ववर्त्ती)[2] स्कन्दपुराण (700-900 ई०), पद्मपुराण (900-1500 ई०)[3] वृहन्नारदीयपुराण (10वीं शती ई० से पूर्व)[4] ब्रह्मपुराण (10वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य)[5] महत्वपूर्ण है। जिनमें विधवाओं से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारियां मिलती है। साथ ही नियोग व पुनर्विवाह को कलियुग में निषिद्ध उल्लिखित किया गया है।

अन्य साहित्यिक रचनाओं में भी विधवा के स्थिति पर यत्र-तत्र प्रकाश पड़ता है। विधवाओं की स्थिति पर पूर्ववर्ती साहित्यिक रचनाओं से भी कुछ प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ कालीदास (चौथी-पांचवीं शती ई०) की कुमारसम्भव, मालविकाग्निमित्र, वराहमिहिर (500-550 ई०) की वृहत्संहिता, वृहद्जातक, इत्यादि। विधवाओं से सम्बन्धित अपेक्षाकृत अधिक प्रकाश 7वीं से 12वीं शती ई० के काल की साहित्यिक रचनाओं से पड़ता है। जिनमें प्रमुख शूद्रक की मृच्छकटिका (5वीं से 6वीं शती ई०), भारवि कृत किरातार्जुनीय, माघ (6वीं शती ई०) की शिशुपालवध, दण्डी (6वीं शती ई०) की

---

1 हाजरा स्टडीज इन द उपपुराणाज भाग 1. पृ० 166-167

2. दूबे, एच० एन० पुराण समीक्षा पृ० 63 पर उद्धृत।

3. हाजरा, वही पृ० 111-114

4. दूबे, एच० एन०, वही पृ० 52 पर उद्धृत

5. हाजरा, वही पृ० 155-157

दशकुमारचरित, विशाखदत्त (6वीं शती ई०) कृत मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्तम्, बाणभट्ट (600-650 ई०) की कादम्बरी, हर्ष (7वीं शती ई०) की नागानंद एवं प्रियदर्शिका, भट्ट नारायण (7वीं शती ई०) वेणीसंहार, दामोदरगुप्त कृत कुट्टनीमत्तम (8वीं शती), राजशेखर (880-920 ई०) की कर्पूरमंजरी, सोमदेव (11वीं शती ई०) कृत कथासरित्सागर, यशोपाल कृत (11वीं से 12वीं) मोहराज पराजय कल्हण (1150-1100 ई०) कृत राजतरंगिणी, जयानक (12वीं शती ई०), पृथ्वीराज विजय (12वीं शती ई०), पृथ्वीराज विजय (12वीं शती ई०) जयसिंह कृत कुमारपालचरित आदि अन्य इतिहास परक ग्रन्थ है, जिनमें तत्कालीन समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों एवं सामाजिक विधानों एवं सती प्रथा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार पत्नियों के अतिरिक्त कभी-कभी गणिकाओं के भी अपने प्रेमी के मृत्योपरान्त सती होने की जानकारी मिलती है। राजशेखर की कर्पूरमंजरी से उत्तर भारत के राजपूतों में सती प्रथा के प्रचलन के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इन इतिहासपरक ग्रन्थों में अध्ययन की दृष्टि से राजतरंगिणी का विशेष महत्व है। यह इस कालखण्ड का ऐसा प्रथम ग्रन्थ है, जिससे तत्कालीन समाज में प्रचलित सती प्रथा का विस्तार से उल्लेख मिलता है। सती प्रथा पर इतना विशद वर्णन, हमें अन्यत्र किसी साहित्यिक ग्रन्थ से नहीं मिलती। इसकी प्रामाणिकता भी सर्वमान्य है। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी उल्लेख मिलते है, जिससे विधवा पत्नी के अतिरिक्त मृत व्यक्ति के साथ प्रेमवश एवं सम्मान से प्रेरित होकर मां, बहन, दास, दासियों, मंत्री एवं अमात्यों इत्यादि के चिता के साथ जलने का उद्धरण मिलता है।

साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत विधवाओं की स्थिति की जानकारी के लिए, जैन साहित्यिक ग्रन्थों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। जिनमें जैन कथा साहित्य के अन्तर्गत

हरीभद्र सूरी (आठवीं शती ई०) द्वारा रचित समराइच्च कहा और उद्योतनसूरी की कुवलयमाला (8वीं शती ई०) से भी विधवाओं से सम्बन्धित जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त जैन साहित्यिक ग्रन्थ निशिथचूर्णीय (7वीं शती ई०) का महत्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ से विधवाओं के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में उल्लेखनीय जानकारी प्राप्त होती है।

शब्दकोष ग्रन्थों का भी अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें अमरकोश, (नामालिंगानुशासन) हलायुधकोश, वैजयन्ती कोश, और मेदिनीकोश, अभिधान चिन्तामणि, इत्यादि महत्वपूर्ण है।

देशी साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त विवेच्यकाल में भारत आये विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इनमें चीनी यात्री ह्वेनसांग (7वीं शती ई०) मुसलिम यात्री सुलेमान (10वीं शती ई०) एवं अलबरूनी[1] (11वीं शती ई०) के विवरण उल्लेखनीय है।

विदेशी यात्रियों के विवरणों केअतिरिक्त प्रस्तुत शोध की दृष्टि से पुरातात्विक साक्ष्यों का विशिष्ट स्थान है। इन साक्ष्यों से साहित्यिक वर्णनों की प्रामाणिकता की पुष्टि होती है। कुछ अभिलेखों से कालखण्ड में विधवाओं की स्थिति एवं सती प्रथा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इनमें एरण स्तम्भ लेख[2] मानदेव का नेपाल (705 ई०)

---

1. सचाऊ - अल्बरूनीज इंडिया
2. कार्पस इन्स्क्रिपशन्स इण्डिकेरम् जिल्द III, पृ० 93

अभिलेख[1], बेलतरु अभिलेख (979 शक रु०), धौलपुर अभिलेख[2] (882 ई०), देवली अभिलेख[3] (947 ई०), जोधपुर का घटियाला अभिलेख[4] (वि० ० 947) बस्सी स्तम्भ अभिलेख[5] (1132 ई० का), पालकालीन सती स्मारक अभिलेख[6] (1162 ई०) उस्त्रां अभिलेख[7] (1192 ई०)व बड़लू सती स्मारक अभिलेख, (1192 ई०)[8] आदि महत्वपूर्ण है। एरण स्तम्भ लेख सती प्रथा से सम्बन्धित प्रथम अभिलेख है। इसी प्रकार एक अन्य अभिलेख कल्चुरि अभिलेख से भी विवेच्यकालीन समाज में प्रचलित सती प्रथा पर प्रकाश पड़ता है।

डॉ० रघुनाथ सिंह यह मानते हैं कि यह प्रथा मेवाड़ राज्य में अत्यधिक प्रचलित थी। यहाँ पर नौवी से 11वीं शती ई० के बीच अनेक रानियों के सती होने के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। धीरे-धीरे सती प्रथा इस राज्य में इतनी अधिक प्रचलित हो गई कि मेवाड़ के गांव-गांव में सतियों का धौरा बनाकर उनकी पूजा की जाने लगी।[9]

---

1. इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द 9, पृ० 163
2. जे० डी० एम० जी० जिल्द 2, पृ० 39
3. इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्थ इण्डिया, नवम्बर 107
4. इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्थ इण्डिया, पृ० 107
5. ई० आ० 1962-63 पृ० 54
6. जनरल प्रो० ए० सो० बं०, जिल्द 12, पृ० 106
7. भण्डारकर- प्रो० टि० आ० स० वे० सं०, 1911, पृ० 53
8. सिंह सुखवीर, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख पृ० 55
9. राजतरंगिणी पर डॉ० रघुनाथ सिंह की टीका द्वितीय तरंग पृ० 402-03

इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य अभिलेख भी महत्वपूर्ण हैं, जिनसे विवेच्यकालीन समाज में विधवा के धार्मिक अधिकार के सम्बन्ध में जानकारी देते हैं। उड़ीसा अभिलेख[1] (८वीं शती) से भौमकर वंशीय त्रिभुवनदेवी एवं दण्डी महादेवी नामक विधवा रानियों द्वारा भूमिदान करने का उल्लेख मिलते हैं।

---

1. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 9, पृ० 133-140

आभार

पूज्यपाद गुरुवर्य प्रो. (डॉ.) वी. एन. एस. यादव, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय का मैं आजीवन ऋणी रहूँगी, जिन्होंने न केवल मुझे शोध विषय का ही सुझाव दिया, अपितु जिनके निर्देशन में शोध प्रबन्ध के रूप में यह ग्रन्थ अपना कलेवर धारण कर सका।
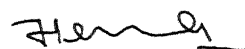
प्रोफेसर, ओम प्रकाश, विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, के प्रति मैं उनसे प्राप्त प्रेरणा एवं सहायता के लिये आभारी हूँ। विभाग के गुरुजनों डॉ. राम प्रसाद त्रिपाठी, डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डॉ. जय नारायण पाण्डेय, डॉ. जगन्नाथ पाल, डॉ. (श्रीमती) रंजना बाजपेयी, श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव, डॉ. हरिनारायण दुबे, डॉ. उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ. आदित्य प्रसाद ओझा, डॉ. अनामिका राय, डॉ. (श्रीमती) पुष्पा तिवारी, डॉ. चन्द्रदेव पाण्डेय, डॉ. देवी प्रसाद दूबे, डॉ. दीप कुमार शुक्ल, डॉ. मानिकचन्द गुप्ता, डॉ. हर्ष कुमार, डॉ. प्रकाश सिन्हा, के प्रति मैं अपने इस शोध कार्य में प्रोत्साहन एवं विभिन्न अवसरों पर सहायता के लिये आभार व्यक्त करती हूँ एवं विभागीय स्टाफ के प्रति भी उनके सहयोग हेतु आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रोफेसर विद्याधर मिश्र, प्रोफेसर चन्द्रमोहन नेगी, प्रोफेसर राम कृष्ण द्विवेदी, प्रोफेसर सन्ध्या मुखर्जी, श्रीमती उर्मिला यादव (इलाहाबाद) व डॉ. दिनेश ओझा (झालावाड़), डॉ. एस. आर. खान (कोटा), श्री बलवन्त सिंह हाड़ा (झालावाड़) की मैं अपने इस शोध कार्य में प्रेरणा एवं सहयोग के लिये अत्यन्त आभारी हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन हेतु वांछित पुस्तकों एवं शोध पत्र-पत्रिकाओं के अध्ययन हेतु विभागीय पुस्तकालय, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय; पुस्तकालय महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय अजमेर, पुस्तकालय, नागरी प्राचारिणी सभा, वाराणसी; पुस्तकालय, हरिशचन्द्र म्यूजियम लाइब्रेरी, झालावाड़; पुस्तकालय, राजकीय महाविद्यालय झालावाड़; पुस्तकालय, आल इंडिया सोशल साइन्सेज, नयी दिल्ली; पुस्कालय, राजस्थान स्टेट आर्काइज, बीकानेर; आदि से पुस्तकालय सुविधायें प्राप्त की। मैं इन पुस्तकालय के पुस्तकालयध्यक्षों एवं कर्मचारियों की अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने वांछित सामग्री एवं आवश्यक सहयोग प्रदान कर कार्य पूर्ण करने में सहयोग दिया।

मैं अपने पति श्री जयराम पाण्डेय, देवर श्री भृगुराम पाण्डेय, पुत्र हिमज पाण्डेय एवं समस्त परिजन एवं मित्रगण के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ, जिनकी सहयोग का, मेरे शोध कार्य के सम्पन्न होने में बड़ा योगदान रहा है।
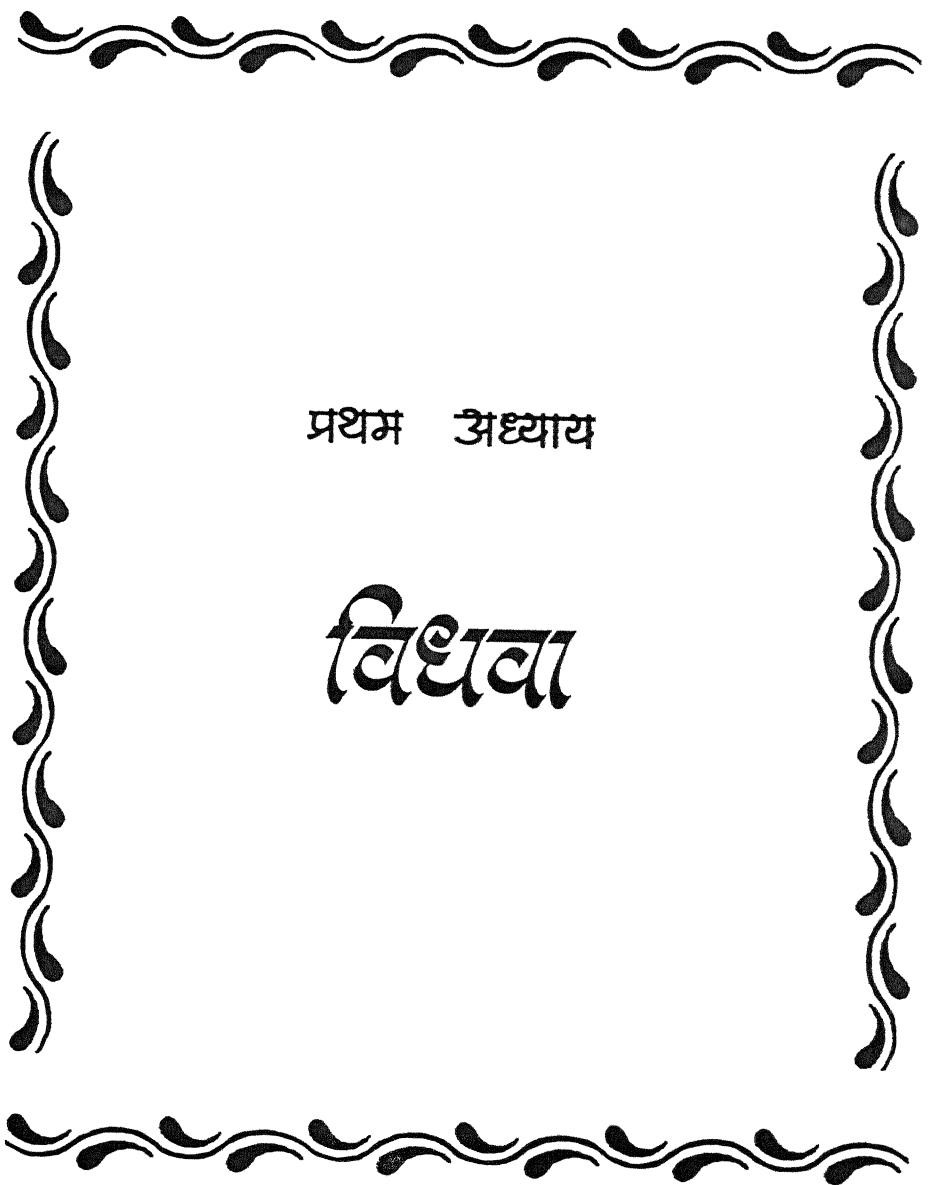
अन्त में मैं अपने पिता श्री मुरलीधर तिवारी, माता श्रीमती लालमणी तिवारी के प्रति उनकी प्रेरणा एवं सहयोग के लिये आभारी हूँ, जिनके आशीर्वाद के बिना मेरे लिये इस कार्य को पूर्ण करना संभव नहीं था।

(हेमलता पाण्डेय)

संकेत - सारिणी

अनु०	–	अनुवादक
इ० एंटी०	–	इण्डियन एण्टीक्वेरी.
इ० हि० क्वा०	–	द इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटर्ली.
इ० आ०	–	इण्डियन आर्किअलाजिकल, ए रिव्यू.
ई० आर० इ०	–	इन साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड इथिक्स.
एपि० इ०	–	एपिग्राफिया इण्डिका.
ए० सो० ना० इ०	–	एशियाटिक सोसाइटी आफ नार्दन इण्डिया.
उप०	–	उपनिषद.
ज० ओ० आर० ए० एस० बी०	–	जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे.
ज० ए० सो० ब०	–	जर्नल आफ द एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल.
ज० बि० ओ० रि० सो०	–	जर्नल आफ द बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी.
तैत०	–	तैत्तरीय.
द० पौ० रि० आ० हि० रा०	–	द पौराणिक रिकार्ड्स आफ हिन्दू रिचुअल्स
ध० शा० इति०	–	धर्मशास्त्र का इतिहास
प्रा० भा० वि०	–	प्राचीन भारत में विधवाएं.
पो० अ० वि० हि० सि०	–	पोजीशन ऑफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन.

प्रो॰ रि॰ आ॰ सा॰ वे॰ स॰	–	प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द आर्किअलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया.
बृह॰ स्मृ॰	–	बृहस्पति स्मृति.
मनु॰ स्मृ॰	–	मनुस्मृति
याज्ञ॰ स्मृ॰	–	याज्ञवल्क्य स्मृति.
राज॰	–	राजतरंगिणी
व्या॰	–	व्याख्याकार
सं॰	–	सम्पादक.
सी॰ आई॰ आई॰	–	कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम
हि॰	–	हिन्दी.

प्रथम अध्याय

विधवा

प्रथम अध्याय

विधवा

नारी-जीवन में सर्वाधिक संघर्षमय स्थिति वैधव्य की है। इस स्थिति में पति की मृत्यु के पश्चात् समुचित आश्रय छिन जाने के कारण नारी के जीवन में कई उतार-चढ़ाव परिलक्षित होते हैं, जो उसके लिए परीक्षा की घड़ियां होती है। विधवा समाज का एक पंगु पहलू है, जिसका तिरस्कार एवं अपमान भारतीय समाज की एक रूढ़िवादी परम्परा रही है। हमारे समाज में विधवा एक निरीह प्राणी समझी जाती रही है और अधिकांश लोग इसे निरीह ही नहीं, बल्कि अशुभ भी समझते रहे हैं। हिन्दू समाज में एक विधवा का जीवन विशेष यातनापूर्ण रहा है।

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में विधवा शब्द एक ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका पति मर चुका हो और उसने दूसरा विवाह न किया हो। विधवा शब्द संस्कृत के शब्द है। यह शब्द ऋग्वेद में तीन बार प्रयुक्त हुआ है।[1] एक ऋग्वैदिक ऋचा में अविधवा नारियों की चर्चा है,[2] जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि विधवा नारियों का भी अस्तित्व था।

वैदिक काल से पूर्व इण्डो-यूरोपियन परिवार की अन्य भाषाओं में भी, यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। विधवा शब्द के लिए लैटिन भाषा में 'विडुवा',

---

1. ऋग्वेद 4.18.2, 10, 40-2 और 8
2. ऋग्वेद 'नारी विधवा' 10-18-6

इटालियन में 'वेडोवा', स्पेनिश में 'विन्डा', फ्रेन्च में वेनेव, जर्मन में वितुवा, गौथिक में विडुवो, ओल्ड स्लावनिक में विडोवा, रूसी में व्डोवा, परशियन में वेवा ओल्ड इंग्लिश में विडिव, मिडिल इंग्लिश में विडोव और न्यू इंग्लिश में 'विडो' शब्द मिलते है।[1]

विधवा शब्द संस्कृत भाषा के वि + धवः का समस्त पद है।[2] जिसमें वि उपसर्ग, धु अथवा धू धातु तथा अप् प्रत्यय है। संस्कृत व्याकरण में विधवा की व्युत्पत्ति 'धवा' से बताया गया है, यहाँ पर प्रयुक्त धवः शब्द अनेकार्थी हैं, जो हिलना कम्पन, मनुष्य, पति, स्वामी वृक्ष एक प्रकार का के लिए प्रयुक्त होते हैं।[3] धवः शब्द पुलिंग, नपुंसक लिंग एवं स्त्रीलिंग तीनों में प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिंग में यह धव + टाप्[4] से धवा शब्द बनता है और इसी प्रकार वि + धु + अप् + टाप् से विधवा शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका तात्पर्य मृतपतिका स्त्री से है।[5]

अधिकांश व्याकरणाचार्य विधवा में वि को धवः का उपसर्ग नहीं मानते हैं, उनके मतानुसार विधव शब्द अपने आप में स्वतन्त्र रूप से मूल शब्द ही है और यही मृत

---

1. विलियम्स, एम0 एम0, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी 1963, 1967 पृ0 967; तिवारी डी. पी. प्राचीन भारत में विधवाएं पृष्ठ–14
2. विगतः धवः यस्याः सा। मृतपतिकायां स्त्रियां।। शब्द स्तोम महानिधि पृ0 397
3. वा0 शिव0 आप्टे 'संस्कृत हिन्दी–कोष', पृ0 491, 498
4. अष्टाध्यायी, 4/1/4, अजाद्यतस्टाप्।
5. विलियम्स, संस्कृत इंग्लिश डिक्सनरी पृ0 967, शब्द स्तोम महानिधि पृ0 339

पतिका के लिए प्रयुक्त होता है। इतिहासकार एन0 एन0 दत्त[1] के मतानुसार विधवा शब्द की व्युत्पत्ति इण्डो यूरोपियन भाषायी परिवार की शब्दों से ही हुई है। उन्होंने लैटिन के शब्द विडेरे (अलग करना) और संस्कृत के शब्द विधे (अलग-अलग करना) को समानार्थक माना है। इसी प्रकार उन्होंने धवः शब्द का पति से तात्पर्य लगाने को भी त्रुटिपूर्ण विन्यास कहा है। इसका वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं मिलता है।

अथर्ववेद में एक स्थल पर धवा को एक प्रकार का वृथा कहा गया है। इससे कुछ इतिहासकार विधवा शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में न होने के कारण धवा से विधवा की उत्पत्ति नहीं मानते हैं।

दत्त महोदय द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचार सर्वथा तर्कसंगत नहीं है क्योंकि कुछ संस्कृत व्याकरणाचार्य विधवा शब्द की व्युत्पत्ति धवाः शब्द से मानते हैं, जिसका तात्पर्य मनुष्य या पति से है। उनके अनुसार, एक विवाहित स्त्री जिसका पति जीवित हो सधवा कहलाती है। यद्यपि वैदिक साहित्य के लिए यह शब्द नया है किन्तु वैदिक साहित्य में ऐसी स्त्रियों के लिए अविधवा शब्द मिलता है, जो विधवा का निषेधपरक शब्द है। जहाँ तक धवाः शब्द का प्रयोग है, यह वैदिक साहित्य एवं इण्डो यूरोपियन भाषाओं में प्रयुक्त नहीं मिलता है। सर्वप्रथम धवाः शब्द का प्रयोग यास्क ने निरुक्त में किया है।[2] यहाँ पर इसका अर्थ पति लेने में कोई कठिनाई नहीं है।

---

1. दत्त, एन0 एन0-विडो इन एन्शिएण्ट इण्डिया, इण्डियन हिस्ट्री क्वार्टर्ली भाग 15 नं0 4 दिसम्बर 1983
2. निरुक्त 3/15 अपि वा धवः इति मनुष्याणाम्।

विधवा शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यास्क[1] (700 ई0 पू0 से 500 ई0 पू0) के निरुक्त में मिलता है। यहाँ पर भी इसका तात्पर्य मनुष्य अथवा स्वामी से है। कालान्तर में इसी के अर्थ का विस्तार करके यास्क ने विधवा शब्द से धवा को विन्यासित न करते हुए, उसका तात्पर्य मनुष्य या पति से लगाते हुए विधवा शब्द की व्याख्या मृत पुरुष की पत्नी से किया है।[2] उन्होंने विधवा को विधातृ का शब्द से भी सम्बोधित किया है।

इस प्रकार वि + धू + अप् + टाप् से विधवा शब्द में व्याकरण की कोई भी त्रुटि नहीं है, और धवः शब्द का पति के पर्याय के रूप में प्रयोग भी उचित है।[3]

इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क के पूर्व विधवा शब्द की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती है। उनके काल में ही सर्वप्रथम विधवा शब्द का अर्थ, मृत व्यक्ति की पत्नी के रूप में ग्रहण किया गया।

---

1. निरुक्त 3/15, विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा धाता धारमिता स तस्या विगत इति। विधावनाद्वा सा हि भर्तुरभाषाद् निरुध्यमाना यत्र तत्र विधावत्येव इति चर्मशिरा आचार्यो मन्यते। यास्क ने अपने पूर्ववर्ती चर्मशिरा आचार्य का उदाहरण देते हुए विधवा की व्याख्या की है अर्थात् विधवा शब्द वि उपसर्ग धूभ कम्पने धातुः अप् प्रत्यय एवं स्त्रीलिंग में टाप से बनता है। इसमें विधवा पति के मरने से कांपने एवं आश्रयहीन के कारण विधवा कहलाती है।
2. शब्द स्तोम महानिधि पृ0 397, केशव, कल्पद्रुकोश 1/3/124, रमोभरूश्च या माता; जमाता रमणो धवः। कान्तः सुखोत्सवश्चापि हदययोशोऽथ जारके।। निरुक्त 3/15; हलायुध कोश पृ0 268, कान्तः स्यात्कमिता पतिर्वरयिता भर्त्ता च प्रोक्ता धवो। स्च्याभीकवराभिकाश्च रमणः प्राणाधिनाऽनुगः।।
3. विन्टरनित्ज, हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, भाग, 1 दिल्ली, 1977 पृ–70

गुप्त काल तक (5वीं शती ई.) तक यह अर्थ रूढ़िगत हो चुका था। गुप्तकालीन साहित्यों[1] में "धवा:" से तात्पर्य पति से लगाते हुए, विधवा का तात्पर्य मृत पति की स्त्री से किया गया है।

यतीन्द्र विमल चौधरी यास्क द्वारा दी गयी विधवा की व्याख्या के आधार पर 'विधवा' का अर्थ मृत पति की स्त्री से और 'विधव' का अर्थ विधुर अर्थात् जिसकी पत्नी मर गयी हो बताया है।[2]

विधवा शब्द की व्युत्पत्ति के साथ ही वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य एवं विभिन्न शब्द कोशों में विधवाओं के लिए अनेक समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, विश्वस्ता, कात्यायनी, भृतभर्तृका, मृतपतिका, जालिका, रण्डा, यतिनी, यति:, अवीरा, पुनरूढा आदि।

अमरकोश[3] में विधवा स्त्री के लिए दो शब्दों विश्वस्ता और विधवा का प्रयोग किया गया है। इसमें विश्वस्ता से तात्पर्य 'ऐसी विधवा से है, जिसका विश्वास विफल हो जाये।[4] मेदिनीकोष[5] के अनुसार विधवा स्त्री विश्वस्ता कहलाती है।

---

1. पंचतंत्र, 2,109, भगवत पुराण 1,16,20
2. वुमेन इन वेदिक रिचुअल्स पृ0 178 एवं 179; शाश्वत कोश पृ0 225, धवो नरो धवो वृक्षो धवो बर्त्ता च योषिताम्।।
3. अमरसिंह–अमरकोश–काण्डाङ्क 3, वर्गाङ्क 6, श्लोकाङ्क 11 विश्वस्ता विधवे समे।"
4. वही, विश्वेति।। विफलं श्वसिति स्म। गत्यर्था 3/4/72 इति क: आगमशासनस्या नित्यत्वान्नेट।। अमरकोश पर रामाश्रयी की टीका।
5. मेदिनीकोष 65/156 विश्वस्ता विधवास्त्रियाम् इति।।

अमरसिंह ने विधवा शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिसकी धवलता नष्ट हो गयी हो, वह स्त्री विधवा कहलाती है।[1] वाचस्पति के अनुसार[2] विश्वस्ता एवं विधवा स्त्री समान ही निकृष्ट होती है।

उत्तरवर्ती कोशों में यादवप्रकाश (11वीं शती ई0) कृत वैजयन्ती कोश[3] तथा हेमचन्द्र (12वीं शती ई0) कृत अभिधान चिन्तामणि[4] में भी मृतभर्ता की स्त्री, को विधवा बताया गया है। वैजयन्ती कोश[5] में गेरुआ वस्त्र धारण करने वाली विधवा को कात्यायनी कहा गया है। अमरकोश[6] में अर्धवृद्धा को कात्यायनी विधवा कहा गया है। अभिधान चिन्तामणि[7] में भी गेरुआ वस्त्र धारण करने वाली अधेड़ उम्र की विधवा को कात्यायनी कहा गया है। यहाँ पर विधवा के गेरुआ वस्त्र धारण करने से तात्पर्य सम्भवतः उसके ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने से एवं वानप्रस्थियों के नियमों के पूर्णतया पालन करने से रहा है।

---

1. अमरकोश, 2,6,11 विगतो धवोऽस्याः द्वे।।
2. शाश्वतकोष, पृ० 525 विश्वस्ताविधवेतुल्ये विस्वस्तायस्तातिनी च सा इति वाचस्पतिः।
3. वैजयन्ती कोश 4.14 पतिपत्नी जीवपतिर्विश्वस्ता विधवाडथ सा।
   कात्यायनी द्वितीयं चेद्वयः काषायमम्बरम्।।
4. अभिधान चिन्तामणि 3, 194 पतिपत्नी जीवत्पति र्विश्वस्ता बिधवे समे।
   निवीरा निष्पत्ति सुता जीवलोका तु जीवसः।।
5. वैजयन्ती कोश, 4,4,14.
6. अमरकोश, पृ० 268; कात्यायन्यर्धवृद्धा या काषायवसनाधवा।
7. अभिधान चिन्तामणि 3, 194. कात्यायनी त्वर्द्धवृद्धा काषाय वसनाऽधवा।।

हलायुध कोश[1] में विधवा स्त्री को जालिका कहा गया है। इस कोश में विधवा के लिए मृतभर्त्तृका, विश्वस्ता, रण्डा, यतिनी, यती आदि समानार्थक नामों का प्रयोग किया गया है। क्षेमेन्द्र[2] (11वीं शती ई.) ने देशोपदेश में स्वतन्त्र रूप से रमण करने वाली विधवा के लिए रण्डा शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द आज भी लोक व्यवहार में अपने अपभ्रंश रूप में दिखाई देता है। आज भी विधवा को रांड कहा जाता है।[3] इसके अतिरिक्त रण्डा शब्द का स्त्रीलिंग में प्रयोग विधवा स्त्री एवं मूषिकपर्णा औषधि के अर्थ में हुआ है।[4] वैजयन्ती कोश में सांसारिक वासनाओं से इन्द्रियों का निग्रह करने वाली, ईश्वरपरक चित्तवृत्ति, धर्मानुसार नितान्त संयमशील, ब्रह्मचर्यपरक जीवन व्यतीत करने वाली, विधवा स्त्री के लिए यति, यतिनी शब्दों का उल्लेख मिलता है।[5] हलायुध कोश[6] में विधवा स्त्री के लिए एक अन्य शब्द निष्फला का प्रयोग हुआ है, जिससे तात्पर्य पति एवं पुत्र रहित स्त्री से है।

---

1. हलायुध-कोश, पृ0 613 'मृतभर्तृका, विश्वस्ता, जालिका, रण्डा यतिनी, यतिः, जालिका-जालं जालवदाकृतिरस्ति अस्याः जाल + अत् इनिठनों इति ठन) भटनामश्मरचिंतांग रक्षिणी वस्त्रविशेषः गिरिसादःजलौकाः जोकं इति भाषा। विधवा।।
2. डॉ0 रघुनाथ सिंह द्वारा सं0 कल्हण कृत राजतरंगिणी, द्वितीय खण्ड की पृ0 582-83 की (पाद टिप्पणी) में उद्धृत देशोपदेश 3/40

   सुधौतवसना तीर्थे स्थित्वा पुण्यदिने सकृत।

   रण्डावेशेव कुरूते वेश्या मैथुनविक्रयम्।।
3. राजतरंगिणी, 6.260
4. शब्द-स्तोम-महानिधि, पृ0 358 'धूर्ते विफले अर्धांगविशिष्टतया छिन्नावयवे मूषिकपर्ण्या विधवायां च स्त्री0। स्वार्थेकन। अफलवृक्षादौ।
5. वैजयन्ती कोश, 6.2.29, पुंश्चल्यां मौक्तिके मुक्ता कारासंयमर्योयतिः।
6. हलायुध कोश, 2.486-7

   रहिता पतिपुत्राभ्यां निर्वीरेत्यभिधीयते।।

   विश्वस्ता विधवा प्रोक्ता, पुष्पहीना च निष्फला।।

अमरकोश के परवर्ती समस्त कोशों और ऐतिहासिक एवं संस्कृत ग्रन्थों में विधवा के लिए मृतभर्तृका अर्थात् मृतक की पत्नी के अर्थ में प्रचलन में आ गया।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न लौकिक व संस्कृत ग्रन्थों एवं शब्दकोशों में विधवा के लिए अनेक समानार्थक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो सम्भवत: उसके व्यवहार के आधार पर उल्लिखित विभिन्न नाम हैं।

विधवाओं का वर्गीकरण :

जिस प्रकार लौकिक व धार्मिक ग्रन्थों में विधवा के विभिन्न समानार्थक शब्द प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार विधवा के कई प्रकार भी प्राप्त होते हैं। यों तो विधवा का वर्गीकरण एक जटिल प्रश्न है, क्योंकि संसार में जितनी विधवाएं हैं उतने ही उनके प्रकार हैं। उनमें एक ही समानता होती थी कि उनके पति की मृत्यु हो चुकी होती थी पर इसके बावजूद विधवाओं में परस्पर असमानता रहती थी पर उनके सामाजिक, आर्थिक एवं पारिवारिक स्तरों में विभिन्नता मिलती है।

विधवाओं के अनेक प्रकार हैं अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, उनको तीन वर्गो में विभाजित किया जा सकता है– (1) विवाह के आधार पर, (2) आयु के आधार पर, (3) चरित्र के आधार पर।

विवाह के आधार पर वर्गीकरण–भारतीय समाज में विवाह एक बहुआयामी एवं पवित्र धार्मिक संस्कार रहा है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में भौगोलिक एवं धार्मिक पृथकता के कारण इसके कई अलग-अलग प्रकार भी प्रचलित मिलते हैं। इन विभिन्न वैवाहिक पद्धतियों के आधार पर विधवाओं को भी उतने ही प्रकार का माना जा सकता है।

भारतीय समाज में प्रचलित विवाह-पद्धति के आधार पर विधवाओं को दो प्रकार से विभक्त करके, उनका आकलन किया ज़ा सकता है–प्रथमत: ऐसी विधवाएं जो विवाह पूर्ण होने से पूर्व ही, वर की मृत्यु होने के कारण विधवा की श्रेणी में आ गयी

रही होंगी। द्वितीयतः, ऐसी कन्याएं जो विवाह पूर्ण होने के पश्चात् पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा की श्रेणी में आयी होंगी।

विवाह के आधार पर, प्रथम वर्गीकरण के अन्तर्गत 'वाग्दत्ता विधवाएं' आती हैं, जिनसे तात्पर्य ऐसी कन्याओं से है, जिनके जन्म के पूर्व ही गर्भ में उनकी माता द्वारा, किसी से विवाह करने का संकल्प कर लिया जाता था और किसी कारणवश यदि संकल्पित लड़के की मृत्यु हो जाती थी, तो वह कन्या विवाह से पूर्व ही जन्म से ही विधवा कहलाती थी।

इसी श्रेणी के अन्तर्गत 'उदकस्पर्शिता' विधवाएं आती थी, जिनसे तात्पर्य ऐसी कन्याओं से था, जिनके पिता द्वारा जल-स्पर्श करके, किसी वर से उनके विवाह का संकल्प किया गया हो और विवाह से पूर्व ही उस वर की मृत्यु हो गयी हो : ये भी विधवाओं की श्रेणी में आ जाती थी। ऋषि वसिष्ठ[1] ने 'वाग्दत्ता' एवं 'उदकस्पर्शिता' दोनों को विधवा न मानकर कुमारी की श्रेणी में माना है। मनु[2] ने वाग्दत्ता विधवा को ही देवर के साथ नियोग की अनुमति प्रदान की है।

विवाह से पूर्व विधवा की श्रेणी में 'मनोदत्ता' विधवाएं भी आती हैं, जिससे तात्पर्य ऐसी कन्याओं से है, जिन्होंने मन से ही किसी को पति के रूप में वरण कर लिया हो, किन्तु विवाह सम्पन्न होने से पूर्व ही वर की मृत्यु हो गयी हो। इस प्रकार का उदाहरण हमें महाभारत में मिलता है, जहाँ पर भीष्म ने काशीराज की कन्या अम्बा को इसलिए मुक्त कर दिया था, क्योंकि उसने मन से शाल्व को पति रूप में वरण कर लिया था।[3]

---

1. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 27.72
2. मनुस्मृति, 9.69-70
3. महाभारत, 1.96.48-51

विधवा के वर्गीकरण के अन्तर्गत 'शुल्कदत्ता' विधवा भी आती है, जिससे तात्पर्य शुल्क देने के पश्चात् यदि शुल्क देने वाले की मृत्यु हो जाती है तो वह शुल्कदत्ता विधवा कहलाती है। मनु[1] ने ऐसी विधवा को देवर के साथ अथवा अन्य वर के साथ पाणिग्रहण करने की अनुमति प्रदान की है।

विवाह के आधार पर विधवा के वर्गीकरण में द्वितीय श्रेणी ऐसी कन्याओं की आती है, जो विवाह संस्कार के मध्य या पूर्ण होने के पश्चात् पति की मृत्यु के कारण विधवा हो जाती थी। इसके अन्तर्गत विवाह-मंडप में अग्नि को साक्षी मानकर उसकी परिक्रमा (फेरों) के पश्चात्, वर की मृत्यु हो जाने वाली कन्या 'अग्निपरिगता' विधवा कहलाती थी। विवाह संस्कार के समय पाणिग्रहण के पश्चात् वर की मृत्यु हो जाने से कन्या 'पाणिगृहीता' विधवा कहलाती थी। अग्नि को साक्षी मानकर पति के साथ सप्तपदी पूर्ण करने के पश्चात् पति की मृत्यु से विधवा हुई कन्या 'सप्तम्पदनीता' विधवा कहलाती थी।

उपर्युक्त विधवाएं विवाह विधि के मध्य पति की मृत्यु से विधवा हो जाती थी। एवं इसके अतिरिक्त ऐसी स्त्रियों की श्रेणी भी थी, जिसमें विवाह सम्पन्न होने के पश्चात् पति के घर आकर उसकी मृत्यु के पश्चात् विधवा बनती थी। इस श्रेणी में जिस स्त्री के पति की मृत्यु पति समागम के पश्चात् हुई वह 'भुक्ता विधवा' कहलाती थी एवं जिस स्त्री के पति की मृत्यु गर्भ धारण के पश्चात् होती थी, वह 'गृहीतगर्भा विधवा' कहलाती थी। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् पति की मृत्यु हो जाने से विधवा हुई स्त्री 'प्रसूता विधवा' की श्रेणी में आती थी।

---

1. मनुस्मृति 9.69; 9.97

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवाह का जो वर्गीकरण प्राप्त होता है, उसमें विवाह से पूर्व संकल्प मात्र के पश्चात् वर की मृत्यु होने से भी कन्या को विधवा की श्रेणी में रखा गया है : विवाह के पश्चात् पति की मृत्यु के पश्चात् तो स्त्री विधवा की श्रेणी में आती ही थीं। किन्तु यह वर्गीकरण सर्वथा समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि विधवा शब्द की सार्थकता में पति का मृत हो जाना निहित है। इसलिए वास्तव में मृतभर्तृका स्त्री ही विधवा की श्रेणी में आनी चाहिए, उससे पूर्व नहीं। अबोध मासूम, अविवाहित कन्या को गर्भ में संकल्प मात्र से ही विवाहित नहीं माना जाना चाहिए। कतिपय टीकाकारों एवं धर्म शास्त्रकारों का मत है कि सप्तपदी पूर्ण होने के पश्चात् ही विवाह को पूर्ण मानते हैं; तत्पश्चात् ही पति-पत्नी के सम्बन्ध सृजित होते हैं। इस प्रकार पति के मृत्योपरान्त ही कन्या को विधवा की श्रेणी में रखा जाता है।

यम[1] के अनुसार उदकदान एवं वाग्दान से कन्या पत्नी नहीं बन जाती है, अपितु पाणिग्रहण के पश्चात् सप्दपदी पूर्ण होने पर ही उसे पत्नी की श्रेणी प्रदान की जाती है। मनु[2] ने भी सप्तपदी पूर्ण होने पर ही कन्या को पत्नी की संज्ञादी है। याज्ञवलक्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर[3] भी सप्तपदी पूर्ण होने पर ही विवाह को सम्पन्न मानते

---

1. यमस्मृति, नोदकेन न वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते।
   पाणिग्रहण संस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे।
   स्मृति मुक्ताफल भाग 1, पृ0 138 पर उद्धृत।

2. मनुस्मृति, 8.227
   पाणिग्रहणिका मंत्रा नियते दारलक्षणम्।
   तेषां निष्ठा तु विज्ञेयो विद्वदिभःसप्तमे पदे।।

3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.65
   दत्तामपिहरेत्पूर्वाछ्रेयाश्चेद्वर आव्रजेत्।। इस पर विज्ञानेश्वर की टीका 'एतच्च सप्तमपदात्प्राद्रष्टव्यम्।।

हैं और इसके पश्चात् ही कन्या को पत्नी की संज्ञा देते हैं। वसिष्ठ[1] ने भी, सप्तपदी पूर्ण होने से पूर्व यदि वर की मृत्यु हो जाती है तो, ऐसी कन्या को कुमारी कन्या मानकर पिता के संरक्षण में रहने का निर्देश दिया है।

इस प्रकार अधिकतर धर्मशास्त्रकार सप्तपदी पूर्ण होने के पश्चात् ही वर की मृत्यु की स्थिति में उसकी पत्नी को विधवा मानने के पक्ष में है। सप्तपदी पूर्ण होने के पश्चात् यदि किसी स्त्री का पति मर जाता था, तो ऐसी विधवा भी दो प्रकार की बतायी गयी है। (1) क्षत-योनि विधवा, (2) अक्षत-योनि विधवा।

क्षतयोनि विधवा से तात्पर्य उस विधवा स्त्री से है, जिसका पति से समागम हो चुका हो, और अक्षत योनि विधवा से तात्पर्य उस स्त्रीसे है, जिसका पति से समागम नहीं हुआ हो। वसिष्ठ[1] ने पाणिग्रहण संस्कार होने के पश्चात् अक्षतयोनि विधवा को भी कन्या कहा है।

विधवा का द्वितीय वर्गीकरण आयु के आधार पर किया जा सकता है। इस आधार पर विधवाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है – प्रथमतः रजस्वला होने से पूर्व, जिसमें 10 वर्ष तक की विधवाएं आती थीं। इस वर्ग में सर्वप्रथम 8 वर्ष की स्त्री विधवा आती है जो विवाह के उपरान्त विधवा हो गयी हो : इसे 'तापिता' विधवा कहा गया है। इसे अग्नि से संज्ञापित किया गया है। 9 वर्ष की उम्र में पति की मृत्यु होने पर, वह विधवा स्त्री 'रोहिणी विधवा' बतायी गयी है। इसे धर्मशास्त्रकारों ने चिता की धुएँ के समान अशुभ बताया है।[3]

---

1. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 17.72, अद्भिर्वाचा च दत्ता या म्रियेतादौ वरो यदि।
   न च मंत्रोपनीता स्यात्कुमारी पितुरेव सा।।
2. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 17.74, पाणिग्राहे मृते कन्या केवलं मंत्र संस्कृता।
   सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हतीति।
3. अमरकोश, पृ0 266 'अनर्चितं वृथा मांसमवीरायाश्च योषितः।।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत 10 वर्ष की आयु में विधवा हुई स्त्री को 'अवीरा' कहा गया है और इसे महापाप से उत्पन्न बताया गया है। इन तीनों प्रकार की विधवाओं को अशुभ एवं महापापभागिनी कह कर उल्लिखित किया गया है।

आयु के आधार पर द्वितीय वर्गीकरण के आधार पर रजस्वला होने के पश्चात् की विधवाएं आती थी। इस विभाजन के अन्तर्गत स्मृतिकारों ने कन्या के रजस्वला होने की उम्र 10 वर्ष के बाद मानी है। ऐसी विधवाओं को दस प्रकार का माना गया है।[1]

पति की मृत्यु के समय 11 वर्ष की आयु वाली विधवा 'दुर्भगा विधवा', 12 वर्ष की आयु की विधवा 'कुटिला विधवा'; 13 वर्ष की आयु वाली विधवा 'काष्ठा विधवा'; 14 वर्ष की आयु की विधवा 'चरमा विधवा'; '15 वर्ष की आयु की विधवा 'चटुला विधवा'; 16 वर्ष की आयु की विधवा 'वशा विधवा'; 17 वर्ष की आयु की विधवा 'वीररण्डा विधवा'; 18 वर्ष की आयु की विधवा 'कुण्डरण्डा विधवा'; 19 वर्ष की आयु की विधवा 'वाधारण्डा विधवा; 20 वर्ष की आयु की स्त्री 'परारण्डा विधवा' कहलाती थी।[2]

---

1. अमरकोश, 491-92

   सन्ति ताश्च प्रवक्ष्यामि स्पष्टार्थ वै प्रसंगतः।

   दुर्भगाकुटिलाकाष्ठा चरमा चटुला वशा।

   वीर रण्डा, कुण्डरण्डा बाधारण्डा तथा परा।

   दशानामपि चैतासां दशमाब्दात्परं तथा।।

2. मेदिनीकोश 95.75 काषाय वस्त्र विधवार्धजरत्युभयोः स्त्रियाम्।

20 वर्ष की अधिक उम्र की महिलाओं का वर्गीकरण स्मृति ग्रन्थों में स्पष्ट नहीं मिलता है, किन्तु कतिपय कोशों में अधेड़ उम्र की विधवा को 'कात्यायनी विधवा'[1] कहा गया है। इसमें उनके वस्त्र को गेरुआ बताया गया है[2], जो उसके वानप्रस्थी होने की ओर इशारा करते हैं। वैदिक ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम की आयु 50–75 वर्ष कही गयी है। 75 वर्ष की आयु वाली वृद्धा विधवा को यातिनी 'यति' विधवा कहा जाता था। धर्मपरक जीवन बिताने वाली विधवाओं को 'रण्डा' कह कर भी संबोधित किया गया है।[3]

विधवाओं का तृतीय वर्गीकरण चरित्र के आधार पर किया जा सकता है। किसी भी व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का दर्पण एवं आधार उसका चरित्र होता है। इसी आधार पर विधवाओं को भी उनके चरित्र के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

चरित्र के आधार पर विधवा को 'साध्वी' और 'असाध्वी' विधवा कहा गया है। साध्वी विधवा को स्मृतिकारों ने शुभ और सभी के द्वारा वन्दनीय माना है।[4] ऐसी विधवा पवित्र आचरण का पालन करती थीं। अपनी इन्द्रियों को संयमित करते हुए, सांसारिक वस्तुओं को नश्वर समझती हुई, मोह–माया से परे, ऊपर उठकर सांसारिक अवगुणों

---

1. द्रष्टव्य ऊपर पृष्ठ–11
2. द्रष्टव्य ऊपर पृष्ठ–11
3. तिवारी, डी0 पी0 प्रा0 भा0 वि0 पृ0 7–8 से उद्धृत।
4. लोहित स्मृति, 577-602

को त्याग कर, ब्रह्म ज्ञान एवं ईश्वर भक्ति में अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करती थी। इन्हें ब्रह्मवादिनी विधवा भी कहते थे।

असाध्वी विधवा अपने नाम के ही अनुकूल साध्वी विधवा से भिन्न थी। ऐसी विधवा का आचरण साध्वी विधवा के आचरण की भाँति पवित्र नहीं था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचित अध्याय में विधवाओं के धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं कोशों में उल्लिखित शब्द, उसकी उसके समानार्थक शब्द और आयु, विवाह एवं चरित्र के आधार पर उनका वर्गीकरण करके उसकी विशद विवेचना करने का प्रयास किया गया है।

❑❑

द्वितीय अध्याय

विधवाओं की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनितिक स्थिति तथा उन पर आरोपित निर्योग्यताएं

द्वितीय अध्याय

विधवा की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति तथा उन पर आरोपित निर्योग्यताएं

वैधव्य नारी जीवन की सर्वाधिक संकटग्रस्त स्थिति है। हिन्दू समाज में विधवा असहाय, निरीह, दीनहीन प्राणी का जीवन व्यतीत करती है। विशेषत: युवती-विधवा की स्थिति 'बीच समुद्र में डूबते हुए जहाज पर बैठे हुए यात्रियों के समान संकटग्रस्त होती है। समाज, परिवार, देश एवं काल की मान्यताएं एवं परम्पराएं सभी उस समय उसकी परीक्षा लेती हैं। वैधव्य, नारी जीवन की महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि विधवा होते ही उसके प्रति समाज एवं परिवार के नियम परिवर्तित हो जाते हैं। उसके सामने अनेक समस्याएं उभर कर सामने आती हैं, जो तात्कालिक सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण का भी बोध कराती हैं।

विधवा की जटिल समस्याओं की कल्पना करके ही भारतीय धर्मशास्त्रकारों[1] ने दम्पत्ति में से किसी एक को भी अलग न होने की सलाह दी है। मनु[2] एवं कुल्लूक[3] ने भी पति-पत्नी को जीवनपर्यन्त एक-दूसरे के साथ रहकर धर्मार्थ कार्य करने की सलाह दी है।

---

1. विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य पर टीका, 1.75
2. मनुस्मृति, 9.101 अन्योन्यस्याभिचारो भवेदामरणान्तिक:।
   एव धर्म: समासेन श्रेय: स्त्रीपुंसयो: पर:।।
3. कुल्लूक की मनुस्मृति पर टीका, 9.101

वैधव्य जीवन अत्यन्त संयम एवं सहनशीलता का जीवन माना जाता है। सर्व अधिकार सम्पन्ना नारी को विधवा होते ही अनेक प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ता है, उसकेलिए कोई भी ऐसा कार्य वर्जित है, जिससे उसके पतिव्रता होने पर संदेह उत्पन्न हो।[1] विधवा के जीवन निर्वाह पर उसके सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के विश्लेषण से जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

वैधव्य को स्त्री के पूर्व जन्मों का प्रतिफल के रूप में सामान्यतया देखा जाता है। विधवा को कठिन यम, नियमों एवं ब्रह्मचर्य के बन्धनों में जकड़ा जाता है। समाज की इसी मानसिकता ने विधवा के जीवन को अभिशाप बना दिया और उसे कठिन शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाएं पहुँचाने में कोई कमी नहीं छोड़ी। विधवा ने इसे भी अपनी स्थिति समझ कर सहा। समाज की यह विचित्र मानसिकता है कि जहाँ एक ओर स्त्री को पूजनीय एवं आदरणीया के रूप में देवी का दर्जा दिया गया है, वहीं दूसरी ओर विधवा के रूप में उसे अमंगलसूचक कलंकिनी एवं अबला कहा गया है।

आलोच्य युग में विधवाओं की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ऐतिहासिक सामग्री का बहुत कम होने के कारण धर्मशास्त्रकारों द्वारा इस विषय को विषेचित करना अत्यन्त कठिन है, फिर भी स्मृतियों की टीकाओं में विधवाओं की दशा पर महत्त्वपूर्ण जानकारी दी गयी है।

वैधव्य की विपत्ति आलोच्यकालीन (7वीं-12वीं) शती ई. विधवाओं को भी सहनी पड़ी। विधवाओं की स्थिति की यदि तुलना की जाये तो, वह अत्यन्त दयनीय एवं दुःखों से

---

1. मनुस्मृति, 5, 156 पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पति लोकमभीप्सन्ती ना चरेत् किंचिदप्रियम्।।

भरी थी। उनकी स्थिति उस टहनी के समान थी, जिसे पेड़ से काट दिया गया हो। प्रारम्भिक चरणों में भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति कुछ ठीक थी, उन्हें नियोग का सहारा लेकर एवं पुनर्विवाह करके पुनः जीवन शुरू करने का अधिकार था, किन्तु कालान्तर में पूर्वमध्यकाल (7वीं से 12वीं शती० ई०) तक बदलती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों तथा विदेशी आक्रमणों एवं विदेशी संस्कृति के प्रभाव से समाज में अनेक रूढ़ियों का प्रादुर्भाव हुआ। जिससे स्त्रियों की दशा पर विशेष प्रभाव पड़ा और रक्तशुद्धता एवं असुरक्षा की भावना के कारण सती-प्रथा पर बल दिया जाने लगा। यद्यपि विधवाओं के पास सती या ब्रह्मचर्य जीवन यापन करने दोनों का विकल्प था विधवाएं और सती होने की अपेक्षा संयमित ब्रह्मचर्य जीवन भी व्यतीत करती थी। इसलिये धर्मशास्त्रकारों द्वारा ऐसी विधवाओं के लिए अनेक नियम, संयम एवं व्रतों के विधान करके इनकी धार्मिक प्रशंसा की गयी और इसे सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया।

आलोच्यकाल में संयम पूर्वक एवं ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं को समाज द्वारा प्रदत्त अधिकार के अन्तर्गत सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थो को विवेचित किया गया था। इस सन्दर्भ में विधवाओं की सामाजिक स्थिति को सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में रख कर उनकी स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

आलोच्ययुगीन विधवा के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा, जीवन-शैली और समाज का उनके प्रति दृष्टिकोण के सन्दर्भ में तत्कालीन स्मृति के टीकाकारों एवं धर्मशास्त्रकारों द्वारा विस्तार से विवेचना किया गया है। हिन्दू समाज में विधवा को शुद्ध एवं पवित्र जीवन जीने के लिए निर्देशित किया गया है, जिसके लिए नियमों का विधान भी किया गया था और इनका पालन भी कठोरता से किया जाता था। मनु (द्वितीय

शती ई० पू०-द्वितीय शती ई०) विधवाओं के एकमात्र सात्त्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के पक्षधर थे। उन्होंने विधवाओं के लिए विहित कर्तव्यों में कहा है, कि विधवा को सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए, कन्द, मूल, फल इत्यादि का सेवन करते हुए अपने शरीर को क्षीण करना चाहिए, किन्तु स्वप्न में भी दूसरे पुरुष का ध्यान नहीं करना चाहिए।[1] मनु, याज्ञवल्क्य के समान नारद[2] भी (5वीं शती ई.) विधवाओं के सात्विक जीवन यापन करने के पक्षधर थे। उन्होंने विधवा को पवित्र धार्मिक स्थानों की यात्रा करने को श्रेयस्कर कहा है एवं उसे पति की मृत्यु के पश्चात् निःसन्तान होने पर पतिकुल के वयस्क सदस्य के और उनके अभाव में राजा के नियन्त्रण में रहने को निर्देशित किया है।[3]

विधवाओं द्वारा संयमित जीवन-यापन का विष्णु[4] तथा बृहस्पति[5] (4-5वीं शती) भी समर्थन करते हैं, जिसमें विष्णु के अनुसार विधवा के पास सती होने का दूसरा विकल्प भी मौजूद था। इससे यह प्रतीत होता है कि गुप्तकालीन समाज में सती प्रथा का प्रारम्भ हो चुका था।

---

1. मनुस्मृति, 5, 157, कामं तु क्षयमेदेहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
   न तु नामापि गृह्णीयीत्पत्यौ प्रेते परस्य तु।।
2. नारद स्मृति, 13, 28-31
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 1/85 पर मिताक्षरा की टीका
4. विष्णु स्मृति 25.15
5. वृहस्पति स्मृति (स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत पृ० 290)

इस प्रकार हम देखते हैं कि छठी शताब्दी ई० में विधवा स्त्री के पास ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन-यापन या पति के साथ सती होने के दो विकल्प थे। वृद्धहारीत[1] (6-9वीं शती० ई०) ऐसे स्मृतिकार हैं, जिन्होंने संयमित जीवन व्यतीत करने वाली विधवा के व्रत, उपवास एवं अन्य नियमों का विस्तार से उल्लेख किया है। उनके मतानुसार-- विधवा स्त्री को बाल सज्जित नहीं करना चाहिए, पान नहीं खाना चाहिए, सुगन्धित पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए; आभूषण एवं रंगीन वस्त्र नहीं पहनने चाहिए; उसे दिन में दो बार भोजन नहीं करना चाहिए; पीतल व काँसे के बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिए; आँख में काजल नहीं लगाना चाहिए एवं श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए; धोखाधड़ी से दूर रहना चाहिए, प्रमाद एवं निद्रा से मुक्त रहना चाहिए तथा रात्रि में कुश के बिस्तर पर शयन करना चाहिए, सज्जनों की सत्संग एवं हरिभजन में अपना समय व्यतीत करना चाहिए। स्मृतियों के टीकाकारों द्वारा विधवा के सेवनीय एवं

---

1. वृद्धहारीत स्मृति, 11. 205-10

   केशरंजन ताम्बूलाच पुष्पादि सेवनम्।
   भूषणं रङ्गवस्त्रं च कास्य पात्रेषु भोजनम्।
   द्विवारभोजनं चाक्ष्णो रंजन वर्जयेत् सदा।
   स्नात्वा, शुक्लाम्बर धरा: जित क्रोधा जितेन्द्रिय।।
   न कल्क कुत्वा साध्वी, तन्द्रालस्याविवर्जिता।
   सुनिर्मला शुभावारा नित्यं संपूजयते हरिम्।।
   क्षितशयी, भवेद्रात्रो, शुचौ वेश कुशोवेर।
   ध्यान योगपरा नित्यं, संतोसड़े व्यवस्थिता।।
   तपस्चरण संयुक्ता यावज्जीव समाचरेत्।।

असेवनीय पदार्थों पर विस्तार से विवेचन किया गया है।

स्मृति चन्द्रिका (6-9वीं शती ई०) में वर्णित प्रचेतस स्मृति में भी विधवा के खान-पान एवं कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इसमें विधवा के सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थों का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि उसे पान का सेवन नहीं करना चाहिए, सुगन्धित द्रव्य एवं कांस्य पात्र में भोजन नहीं करना चाहिए।[1] विधवा के लिए निषिद्ध अन्य पदार्थों में मधु, मांस, लवण, मद्य इत्यादि थे। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट[2] (11वीं-12वीं शती ई०) ने भी विधवा को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मधु, मांस, मैथुन एवं मदिरादि के सेवन को सदैव के लिए वर्जित बताया है। उन्होंने विधवा द्वारा तामसिक भोजन के स्थान पर, सात्त्विक भोजन ग्रहण करने की सलाह दी है। मेधातिथि[3] (9वीं शती ई०) ने भी विधवाओं के संयमपूर्ण जीवन-यापन पर बल देते हुए लिखा है, कि विधवा को अपना शेष जीवन-यापन करने के लिए किसी का आश्रय नहीं लेना चाहिए। उसे सामान्य जीवन यापन करने के लिए फल-फूल, जड़ आदि सात्त्विक भोजन ही करनाचाहिए। भले ही भोज्य के अभाव में उसकी मृत्यु क्यों न हो जाये।

---

1. प्रचेतस स्मृति (स्मृतिचन्द्रिका पृ० 222, स्मृतिमुक्ताफल, वर्णाश्रम पृ० 161 पर उद्धृत)।

   'ताम्बूलाभ्यंजनंचैव कांस्यपात्रे च भोजनं।

   यतिश्च ब्रह्मचारी च विधवा च विवर्जयेत्।।

2. कुल्लूक भट्ट, मनुस्मृति 5, 158 पर टीका

   मधुमांसमैथूनवर्जनात्मक ब्रह्मचर्यशालिनी।।

3. मेधातिथि की टीका, मनुस्मृति पर 5.165

टीकाकार भारुचि[1] (9-10वीं शती ई०) एवं सर्वज्ञनारायण[2] (11वीं शती ई०) भी विधवाओं के लिए उपर्युक्त विवेचित भोजन सेवन करने का समर्थन करते हैं। स्मृति की टीकाओं के अतिरिक्त तत्कालीन पुराणों से भी विधवाओं की सामाजिक दशा की जानकारी मिलती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण[3] में विधवा स्त्री के लिए अखाद्य पदार्थों का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि उसे मिठाई, रक्तशाक (चौराई), मसूर, नींबू, पर्ण, गोलाकार लौकी इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। स्कन्दपुराण (7वीं-9वीं शती ई०) के काशीखण्ड में विधवाओं के सात्त्विकतापूर्ण जीवन के लिए विहित कर्त्तव्यों का अति विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें विधवाओं के लिए कार्तिक में भांटा, सूरन, शुकशिंवी, तेल, मधु और सुगन्धित सामग्रियों के त्याज्य एवं अखाद्य कहा गया है और कन्द-मूल, फल को सर्वश्रेष्ठ खाद्य के रूप में उल्लिखित किया गया है।[4] गरूड़ पुराण में भी विधवाओं के लिए कन्द-मूल फल, यव, शाक एवं दुग्ध को खाद्य में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।[5]

---

1. भारुचि की टीका (मनुस्मृति, 9.75-76)
2. दास, आर० एम०, विमिन इन मनु एण्ड दियर सेवेन कमेन्ट्रेटर्स भाग 3, पृ० 227
3. ब्रह्मवैवर्त पुराण 2.83.97-2.83.100,

    "मिष्टान्नं न वा भुक्ते सा न कुर्याद्विभवंब्रज।।
    'रक्तशाकं मसूरंच जम्बीरं पर्णमेव च।
    अलाबू वर्तुलाकार वर्णनीयं च तैरपि।।

4. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 4.88-89
5. गरुड़ पुराण, 1.116.9, धर्मार्थं जीवितं येषां दुर्गाण्यतितरन्ति ते।
    सन्तुष्टः को न शक्नोति फलमूलैश्च वर्त्तितुम्।

    स्कन्दपुराण, 4.77, यवन्नैर्नवा फलाहारैः शाकाहारैः पयोव्रतेः।
    प्राणयात्रां प्रकुर्वीत यावत्प्राणः स्वयं ब्रजेत्।।

इस प्रकार स्मृति की टीकाओं एवं पुराणों में वर्णित विधवाओं के खाद्य एवं अखाद्य वस्तुओं से यह ज्ञात होता है कि ऐसे नियमों का मुख्य उद्देश्य उनको संयमित रखकर ब्रह्मचर्य जीवन यापन करवाना था। विधवा के लिए सात्त्विक भोजन इसलिए श्रेयस्कर बताया गया है, क्योंकि मांस, मद्य, लवण इत्यादि युक्त भोजन उष्ण प्रकृति के थे, और ये ब्रह्मचर्य के पथ में बाधक हो सकते थे, अतः उसे शुद्ध वृत्ति रखने वाले भोज्य ही ग्राह्य करने हेतु कहा गया।[1] कुछ स्मृतिकारों एवं धर्मशास्त्रकारों ने विधवा द्वारा एक समय ही भोजन करने एवं त्रिरात्र, पंचरात्र, पक्षव्रत, भासव्रत एवं चन्द्रायण व्रतों के पालन करने को भी कहा है।[2]

भोजन में ग्राह्य एवं त्याज्य पदार्थों के अतिरिक्त स्मृतिकारों एवं उनके टीकाकारों द्वारा विधवाओं के संयमित जीवन यापन हेतु कतिपय अन्य नियमों का भी प्रतिपादन किया गया, जिसको सात्विक जीवन यापन में कठिनता से पालन करना पड़ता था। स्मृतिकारों ने सात्त्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं के लिए विभिन्न प्रकार के नियमों का उल्लेख किया है।

विधवा के सात्त्विकतापूर्ण जीवन के विषय में पराशर (6-9वीं शती ई०) लिखते हैं, कि जो स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई, अपना जीवन

---

1. वृद्धहारीत स्मृति, 11.207, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 4 75,
   नन्दपंडित द्वारा विष्णु स्मृति की टीका में उद्धृत प्रचेता का मत 25.14,
   'एकाहारः सदा कार्यो न द्वितीयः कदाचन"
2. वशिष्ठ स्मृति, 7.78, स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 4.75-76

व्यतीत करती है, वह मरने पर ब्रह्मचारणियों के सदृश गति को प्राप्त होती है।[1] वह पतिव्रता विधवा अपने पति को उसी प्रकार खोज लेती है, जिस प्रकार सपेरा अपने बीन की मधुर ध्वनि से सांप को बिल से निकाल लेता है, तथा उसके साथ पुनः विहार करती है।[2] इस सम्बन्ध में हारीत ने लिखा है, "जो स्त्री, जिह्वा, हस्त, पाद इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर स्वाचारवती होकर दिन-रात पति का अमुशोचन करती हुयी, संयमित रहती है, अन्त में पतिलोक को प्राप्त करती है और उसे पुनः पति-वियोग प्राप्त नहीं होता है।"[3] ब्रह्मचर्य पूर्वक विधवा के जीवन-निर्वाह की प्रशंसा करते हुए वृहस्पति लिखते हैं, "पति के मृत्योपरान्त जो पतिव्रता विधवा ब्रह्मचर्य का पालन करती है, वह सभी पापों से मुक्त होकर पतिलोक को प्राप्त करती है। नित्य व्रत, उपवास रखते हुए ब्रह्मचर्य पालन करते हुए, दम, दान में रत अपुत्रवती विधवा भी स्वर्गगामी बनती है।"[4]

---

1. पराशर स्मृति, 4.31

   मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्य व्रते स्थिता।

   सा मृतालभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः।।

2. पराशर स्मृति, 4.33

   व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते विलात्।

   एवं स्त्रीपतिमुद्धत्य तेनैव सह मोदते।।

3. हारीत का उद्धरण, कृत्यकल्पतरु, व्यवहारकाण्ड पृ० 634

4. वृहस्पति स्मृति, 21, 51 विष्णु धर्मसूत्र 25.17

   'मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।

   स्वर्गगच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः।।

आलोच्यकाल संक्रमणकाल था। इस समय अनेक सामाजिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, जो तत्कालीन समाज में व्याप्त रूढ़ता का परिचय देते हैं। तत्कालीन समाज में वैधव्य जीवन बहुत ही अपमानजनक समझा जाता था। विधवा को समाज में अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुए जीवन यापन करना पड़ता था। उसकी स्थिति दीनों एवं अनाथों के समान थी।[1] उसे समाज में कुछ सम्मानित स्थान तभी मिलता था, जब वह धर्मशास्त्रकारों द्वारा उल्लिखित सामाजिक कर्तव्यों के अनुसार ब्रह्मचर्य का कठोरतापूर्वक पालन करती थी।

विधवा को अमंगलकारी एवं अभागी की संज्ञा समाज द्वारा दी गयी। विधवा को अमंगलों में भी सर्वाधिक अमंगल कहा गया, उसके दर्शन को अशुभ माना गया। स्कन्दपुराण के अनुसार विधवा माता को छोड़कर सभी विधवाएं अमंगलसूचक हैं, ब्राह्मण लोग उसके आशीर्वाद को भी विष के समान समझते थे।[2] इसी सामाजिक दृष्टिकोण के कारण विधवाओं के खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा इत्यादि पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। उसे साधारण स्त्री की तुलना में अनेक विचारों का ध्यान रखना पड़ता था, क्योंकि ऐसा न करने पर वह पाप की भागिनी एवं अपने कुल एवं पति को स्वर्ग से पतित कराने की जिम्मेदार ठहरायी जाती थी।

---

1. मत्स्य पुराम, 215.61

   कृपणानाथावद्वानां विधवानां व पोषिताम्।।

2. 2. स्कन्दपुराण, 4.75-76; 7, 67

विधवा के खाद्य एवं अखाद्य पदार्थों के अतिरिक्त, उसके वस्त्र एवं शृंगार पर भी अनेक नियमों का उल्लेख मिलता है। धर्मशास्त्रकारों द्वारा विहित विधवा के वस्त्र-विन्यास के अन्तर्गत उसे साधारण श्वेत वस्त्र धारण करने हेतु सलाह दी गयी। अहिहा स्मृति (400-1000 ई०) में लिखा गया है "जो स्त्री पति की मृत्युपरन्त रंगीन वस्त्र धारण करती है, वह अपने पति को स्वर्ग से गिराकर, उसे व स्वयं को नरकगामी बनाती है।"[1] स्कन्दपुराण[2] एवं ब्रह्मवैवर्त[3] पुराण में विधवा को कंचुक (चोली) एवं दिव्य वस्त्र धारण न करने की सलाह दी गयी। रंगीन वस्त्र के समान ही विधवा को आभूषण धारण करना भी निषिद्ध था। मत्स्य पुराण[4] में विधवा को आभूषण का त्याग एवं मलीन वस्त्र धारण करने का निर्देश दिया गया।

विधवा के कर्तव्यों के सन्दर्भ में पुराणों में वर्णित है कि विधवाओं के द्वारा कबरी बन्ध अर्थात् सिर के केशों को संवार कर बाँधने से पति बन्धन में पड़ता है, अतः उसे अपने बालों को मुण्डित रखना चाहिए। जो विधवा स्त्री, पलंग पर शयन करती है, वह अपने पति को नरकगामी बनाती है। उसे सुगन्धित द्रव्यों का लेप नहीं करना चाहिए। उसे प्रतिदिन तिल, जल एवं कुश से पति, पति के पिता तथा पितामह के नाम एवं

---

1. अंगिरा स्मृति श्लोक 21, मृते भर्तरि या नारी नीली वस्त्रं प्रधारयेत।
   भर्ता तु नरकं याति सा नारी तदनन्तरम्।।
2. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 4.103, 'कंचुकं न परीदध्यात् वासो न विकृतं वसेत्।
3. ब्रह्मवैवर्तपुराण 2.83.94; वृद्धहारीत स्मृति, 11.205-10
4. मत्स्य पुराण - नारी याऽभर्तृकास्मात्तुनस्ते त्यक्तभूषणा।
   न राजते तथा शक्र म्लानवस्त्रशिरोरूहा।।

गोत्र से तर्पण करना चाहिए। उसे मृत्युपर्यन्त बैलगाड़ी में नहीं बैठना चाहिए, उसे वस्त्रों में चोली (कंचुकी) नहीं धारण करना चाहिए।[1] स्मृतिकारों ने भूमि शयन को वैधव्य धर्म के साथ ही साथ ब्रह्मचर्य व्रत के लिए भी आवश्यक माना है।[2]

धर्मशास्त्रों एवं पुराणों के अतिरिक्त आलोच्यपूर्वमध्यकाल में लिखे गये एवं समकालीन साहित्यिक रचनाओं से भी विधवाओं की सामाजिक स्थिति एवं उनके दैनिक जीवन की दुरूहता के बारे में जानकारी मिलती है। महाकवि कालिदास (4-5वीं शती ई०)[3] ने अपनी रचनाओं में वैधव्यमय जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं के जीवन पर कुछ जानकारी दी है। 'कुमारसम्भवम्'[4] के वर्णनानुसार विधवाओं को मांगलिक

---

1. स्कन्दपुराण (काशी खण्ड) 6, 75

   विधवा कबरी बन्धौः भर्त्तबन्धाय जायते।
   शिरसो वपनं तस्मात् कार्य विधवया सदा।।
   पर्यङशायिनी नारी विधवापातयेत् पतिम्।
   नवाङ्गोद्धर्तनं कार्यः स्त्रिया विधवया क्वचित्।।
   गन्ध द्रव्यस्य संभोगो नैव विधवया क्वचित्।।
   गन्ध द्रव्यस्य संभोगो नैव कार्यस्तया पुनः
   तर्पण प्रस्यहं कार्य भर्त्तुस्तिल कुशोवकैः।।

2. वृद्धहारीत स्मृति 11.205-10; ब्यास स्मृति 4.5, 12-14; हारीत स्मृति 1.27, 2.3, 7, 13, 3.2
3. कालिदास की तिथि यद्यपि विवादास्पद है, किन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 4-5वीं शती ई० की तिथि के आलोक में वर्णन किया जा रहा है।
4. कुमारसम्भवम् , 7.6

विवाहादि उत्सवों में भाग लेने की अनुमति नहीं थी। वराहमिहिर (5-6वीं शती ई०) के ज्योतिष ग्रन्थ वृहत्संहिता[1] तथा वृहज्जातक[2] में भी वैधव्य का जीवन यापन करने वाली विधवाओं का उल्लेख मिलता है। बाणभट्ट (6-7वीं शती ई०) द्वारा रचित 'कादम्बरी' नामक ग्रन्थ में भी विधवाओं के सात्त्विक जीवन का उल्लेख मिलता है, जिसमें उसे श्रेष्ठ बताया गया है। बाणबट्ट के मतानुसार, यदि विधवा दानादि उत्तम कार्य सम्पादित करती हुई, ब्रह्मचर्य का पालन करती है, तो वह अपने कार्यों से न केवल स्वयं को अपितु अपने मृतक पति को भी लाभान्वित करती है।[3] 'हर्षचरित' में वर्णन करते हुए वे लिखते हैं, कि 'विधवा का जीवन अत्यन्त कष्टमय होता था, वह साधारण परिधानों को धारण करती थी, तथा श्रृंगारादि नहीं कर सकती थी।[4] बाणभट्ट के हर्षचरित में विधवाओं को काजल एवं मुख पर सौन्दर्यवर्धन के लिए पीला लेप न लगाने का उल्लेख किया गया है।[5] हर्षचरित में विधवा स्त्री साज श्रृंगार का निषेध के साथ ही जूड़ा न बाँधने का उल्लेख किया गया है।[6] उसमें विधवा के शोक की पराकाष्ठा का वर्णन उसके विकीर्ण केशों के रूप में किया गया है। इस काल में विधवा स्त्रियाँ एक वेणी बाँधती थी, जिसे वैधव्य वेणी कह कर वर्णित किया गया है।[7]

---

1. वृहत्संहिता 35.79, पृ० 33, 49, 59
2. वृहज्जातक- 25.8 (बाल विधवा के प्रसंग)
3. 3. कादम्बरी (पूर्वार्द्ध) पृ० 308

   "जीवस्तु जलान्जलिदानादिना बहूकरोत्युपस स्यात्मनश्च मृतस्तु नोमस्यापि।"
4. हर्षचरित अंक 6, पृ० 357
5. वही, अंक 6, पृ० 357
6. वही, अंक 6 पृ० 357 एवं पृ० 281
7. वही, अंक 5, पृ० 298

7वीं शती ई० के जैन ग्रन्थ 'निशीथचूर्णी' से भी तत्कालीन विधवाओं के सामाजिक जीवन की जानकारी मिलती है। जिसके अनुसार, 'विधवा स्त्रियाँ अत्यन्त साधारण वस्त्र धारण करती थी, उन्हें किसी भी प्रकार के आभूषण धारण करने की अनुमति नहीं थी।[1] इसी रचना में एक अन्य स्थळ पर उल्लेख मिलता है, कि पति की मृत्युपरान्त सामान्यतया विधवाएं पतिगृह में ही अपना शेष जीवन व्यतीत करती थीं[2] इसके विपरीत ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि पति की मृत्युपरान्त अपने पिता के पास वापस भी लौट जाती थी।[3] इस कृति में एक अन्य स्थल पर विधवाओं के दो प्रकार का उल्लेख मिलता है, जिसमें इच्छानुसार अविवाहित रहते हुए, सात्विक जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं को 'भावव्रत' तथा इसके विपरीत दबाव के कारण सात्त्विक जीवन-यापन करने वाली विधवाओं को 'द्रव्यव्रत' कहा गया है।[4] इसी ग्रन्थ से वैधव्य के असह्य तथा दुरूह जीवन से परेशान होकर कभी-कभी विधवाओं के जैन भिक्षुणियाँ बनने का उल्लेख भी मिलता है।[5] एक अन्य जैन ग्रन्थ हरिभद्र सूरि के 'समराइच्चकहा' (8-9वीं शती ई०) से विवेच्यकालीन विधवाओं की सामाजिकस्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ में भी विधवा को उपेक्षित एवं अशुभसूचक बताया गया है।[6] इस ग्रन्थ से विदित होता है कि वैधव्य की असह्य पीड़ा

---

1. निशीथचूर्णी-2, पृ० 11, पद्मपुराण, 23, 69
2. निशीथचूर्णी 2, पृ० 111
3. वही, 3, पृ० 52
4. वही, 1, पृ० 1
5. वही, 11, पृ० 258
6. समराइच्च कहा, 7 पृ० 664-66

एवं उपेक्षित जीवन से व्याकुल होकर विधवाएं ब्रह्मचर्य की अपेक्षा सती हो जाना अधिक श्रेयस्कर समझती थी।[1]

कतिपय अन्य साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों से भी उत्तरी भारत में विधवाओं की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। प्रतिपाल भाटिया के अनुसार परमार वंश के शासन काल में विधवाओं की स्थिति आश्रिता के समान थी, उन्हें अपना शेष जीवन परिवार के किसी भी सदस्य के संरक्षण में आश्रिता के रूप में व्यतीत करना पड़ता था। उदाहरणार्थ राजा पूर्व पाल की बहन लाहनी ने अपने भ्राता के संरक्षण में अपना वैधव्य जीवन व्यतीत किया।[2] चाहमान वंश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ 'जगद्चरित' में भी विधवाओं द्वारा सात्त्विकतापूर्ण जीवन व्यतीत करने पर बल दिया गया है। समसामयिक अन्य राजवंशों में विधवाओं के पुनर्भू के उदाहरण भी यदा-कदा परिलक्षित होते हैं।[3] त्रिपुरी के कलचुरि वंशकालीन समाज में भी उपर्युक्त प्रसंगों की भांति ही मान्यता थी।[4] इस वंश की सात्त्विकतापूर्ण जीवन यापन करने वाली विधवाओं में 'कल्हण देवी' तथा 'गोसल्ला देवी' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है।[5] सोमदेव रचित 'कथासरित्सागर' (11वीं शती ई०) में भी विधवाओं के लिए विभिन्न विकल्पों का उल्लेख मिलता है।

---

1. वही, पृ० 505, 662
2. भाटिया, प्रतिपाल - द परमारस्, पृ० 286
3. जगद् चरित, 3, पृ० 23-27
4. कार्पूस, इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम्, 4, पृ० 169
5. वही, पृ० 169

इस ग्रन्थ में वैधव्य जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं के कष्टमय जीवन तथा उसके स्वजनों द्वारा निर्बलता का लाभ उठाकर, उसकी सम्पत्ति के हरण का उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में एक वणिक की कथा का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार वणिक जब अपनी माता के गर्भ में था, तभी सहसा उसके पिता की मृत्यु के पश्चात्, उसके लोभी संबंधियों द्वारा उसकी माता को बहलाकर उसका सारा धन हड़प लिया गया था।[1]

उपरोक्त वर्णित धार्मिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त कतिपय विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी आलोच्य कालीन उत्तरी भारत में विधवाओं की स्थिति पर जानकारी मिलती है। विदेशी यात्री अल्बरूनी[2] (10वीं–11वीं शती ई०) ने तत्कालीन भारत की सामाजिक आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि पति की मृत्युपरान्त विधवा का पुनर्विवाह का अधिकार समाप्त हो गया था। उसके सामने दो ही विकल्प रहता था, या तो वह सात्विक जीवन व्यतीत करे अथवा सती हो जाये। यदि विधवा सती न होकर सात्त्विक जीवन अपनाती थी तो समाज में उसका उत्पीड़न होता था तथा राज्य द्वारा उसकी सम्पत्ति का हरण कर लिया जाता था। उसके भरण–पोषण का प्रबन्ध राज्य द्वारा किया जाता था।[3]

---

1. कथासरित्सागर, 1.6.29

   गर्भस्थस्य च मे पूर्व पिताचञचत्वभमागतः।

   मन्मातुश्च तदा पापेगोत्रजैः सकलं हतम्।।

2. अल्बरूनीज इण्डिया, भाग 2, पृ० 155
3. अल्बरूनीज इण्डिया सम्पादित सांचो, भाग 2, पृ० 155-56 165

इस प्रकार पुराणों, स्मृतियों एवं टीकाकारों द्वारा विधवाओं हेतु विहित नियमों एवं विधानों से उनकी असहाय एवं दुरूह जिन्दगी पर पर्याप्त जानकारी मिलती है। यद्यपि प्राचीन काल से चली आ रही, मान्यताएं धीरे-धीरे परिवर्तित हो रही थी, जिससे पूर्वमध्यकाल में बदलती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप नियोग एंव पुनर्विवाह जैसे विकल्पों की निन्दा की जाने लगी थी, इसे हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था। सती प्रथा के विकास के कारण ये कलिवर्ज्य विषय के अन्तर्गत आ गये।

इस समय तक विधवा को समाज में अपशकुन एवं अमंगलकारी माना जाने लगा था। चेतनावस्था क्या स्वप्न में भी, विधवा को देखना अशुभ समझा जाता था। उसे ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करने का विधान किया गया, और इसके पालन के लिए उसे नृत्य गीत का श्रवण, दर्शन, पर पुरुष का दर्शन एवं महोत्सवादि में भाग लेने का निषेध किया गया।[1]

परिवर्तित मान्यताओं के कारण विधवा की स्वतंत्रता भी प्रभावित हुयी। विधवा के संरक्षकत्व के सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य ने उसे क्रमशः पिता, माता, पुत्र, भाई सास-श्वसुर में रहने को नियत किया था और जो विधवा स्वतंत्र रहती थी, उसे निन्दित होना पड़ता था।[2]

---

1. विष्णु स्मृति 4.8-9; ब्रह्मवैवर्त पुराण 2.83.104

   'मुखं च परयुंसाञ्च यात्रां नृत्यं महोत्सवम्।

   नर्तनं गायनं चैव सुवेशं पुरुषं शुभम्।।"

2. याज्ञवल्क्य, 1.86

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से ज्ञात होता है कि विधवा होना पूर्वजन्म के पापकर्मों का फल समझा जाता था। ब्रह्मचर्य के कठोरता से पालन द्वारा ही विधवा की मुक्ति सम्भव थी। इसके लिए सामाजिक निषेध एवं खान-पान-आचार-व्यवहार में असेवनीय पदार्थों के अतिरिक्त उसे कुछ धार्मिक कर्तव्यों के पालन का भी विधान किया गया था, जिसके पालन करने से भी वह पाप से मुक्त होकर अपना और अपने मृत पति का कल्याण करती थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति में धर्म का समाज पर महत्वपूर्ण प्रभाव था और अन्त्येष्टि को भी एक संस्कार माना जाता था। जो वैदिक मंत्रों द्वारा सम्पन्न किया जाता था।[1] प्राचीनकालीन समाज में विधवा पत्नी द्वारा पति की अन्त्येष्टि में सम्मिलित होने एवं मृतपति को तर्पण (जलांजलि) देने का विवरण भी मिलता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में विधवा धर्म के अन्तर्गत पति को जलांजलि देने का विधान मिलता है।[2] यही प्रथा आगे के परवर्ती काल में भी अस्तित्व में दिखलायी पड़ती है, जिसका उल्लेख साहित्यिक रचनाओं में है। व्यास स्मृति में विधवाओं के धार्मिक कर्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि विधवा स्त्री को प्रतिदिन अपने पति, उसके पितरों, (श्वसुर, प्रश्वसुर इत्यादि) को कुश एवं तिल मिश्रित जल से प्रतिदिन तर्पण करना चाहिए।[3] आप्टे द्वारा भी अपने पुत्रहीन विधवाको पुत्र द्वारा किये जाने वाले

---

1. याज्ञवल्क्यस्मृति 1.10; काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 3, पृ० 1116
2. आपस्तम्ब स्मृति 'यावज्जीवं प्रेतपत्न्युदकोस्पर्शनमेकभुक्तः।।
3. व्यास स्मृति 25.15, 'तर्पणं प्रत्यहं कार्यं भर्तुः कुश तिलोदकैः।
   तत्पितुस्तत्पितुश्चापि नामगोत्राभिपूर्वकम्।।
   स्कन्दपुराण, काशी खण्ड 4/80

सम्पूर्ण धार्मिक अधिकारों को दिया गया है और उसके द्वारा पति को प्रतिदिन तर्पण करने को निर्देशित किया गया है।[1] रत्नावली में भी पुत्रहीन विधवा को तर्पण का अधिकार दिया गया है। उक्त ग्रन्थ में पुत्रहीन विधवा को पति के लिए पुत्र समान कहा गया है और पुत्रवती विधवा को पति को मात्र जलांजलि देने का अधिकार प्रदान किया गया है।[2] मत्स्यपुराण[3] (4वीं ई०) नामक ग्रन्थ में पितरों के पिण्डदान का उल्लेख मिलता है। शंखस्मृति (6-9 शती ई०) में[4] विधवा स्त्री को मृत पति की पिण्डदात्री के रूप में वर्णित किया गया है। याज्ञवल्क्य (1-3 शती ई.) में पुत्रहीन विधवा को दायादियों में प्रथम स्थान पर रखते हुए उसे मृतक के समस्त कृत्य पिण्ड दानादि का अधिकार दिया है। शंख अपने स्मृति ग्रन्थ में लिखते हैं कि पति-पत्नी एक-दूसरे के पिण्डदात्री हैं और पुत्रहीन श्वसुर के पिण्डदान का अधिकार उन्होंने विधवा पुत्रवधू को दिया है।[5] विज्ञानेश्वर[6] (1080-1101 ई०) ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपनी टीका में वैधव्य जीवन को

---

1. आप्टे- श्रद्धामंजरी, पृ० 116
2. रत्नावली- अपुत्रा पुत्रवतपत्नी पुत्रवत्यपि भर्तरि।
   श्राद्धं तिलोदकं कुर्साज्जल मात्रं तु पुत्रिणी। धर्मसिन्धु पृ० 769-70।
3. मत्स्यपुराण 18.5-7, काणे-धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ० 1191
4. शंखस्मृति- पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्ड दानोदक क्रिया।
   पुत्राभावे तु पत्नीस्यात् पत्न्य भावे तु सोदरः।।
5. शंखस्मृति - 'भार्यापिण्डं पतिर्दधात् भर्त्रे भार्या तथैव च।
   श्वश्वादेश्च स्नुषा चैव तदभावे तु सोदरः।
6. याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका 2/135-36

सात्विकता से पालन करने वाली, विधवा को पति के मृत्योपरान्त उसकी सम्पत्ति एवं पिण्डदानादि का अधिकारी कहकर वर्णित किया गया है। बाणभट्ट (6-7वीं शती ई०) ने भी अपने ग्रन्थ हर्षचरित में विधवा पत्नी को पिण्डदात्री के रूप में उल्लिखित किया हुआ है।[1]

विधवा स्त्री द्वारा सम्पादित किये जाने वाले धार्मिक कार्यों में श्राद्ध कर्म भी था, जो वह अपने मृत पति एवं पितरों की आत्मिक शान्ति के लिए सम्पादित करती थी। पद्मपुराण में पुत्रवती विधवा द्वारा तीर्थों में पिण्डदान करने का निषेध किया है, किन्तु पुत्रहीन विधवा को पति का श्राद्ध करने का विधान किया गया है।[2] इस प्रकार स्मृति के टीकाकारों द्वारा विधवा को पति के पिण्ड, श्राद्ध इत्यादि कर्म करने का अधिकार दिया गया है। वृहस्पति[3] के अनुसार विधवा को पति की सम्पत्ति प्राप्त करके उसके पिण्डदानादि इत्यादि कार्य सम्पन्न करने चाहिए। कात्यायन ने भी अपनी स्मृति में इसी प्रकार के विचारों का समर्थन किया है।[4]

जीमूतवाहन[5] (1100-1150 ई०) ने अपने ग्रन्थ दायभाग में विधवा को पति की

---

1. हर्षचरित- अंक 6 पृ० 447
2. पद्मपुराण - श्राद्धकल्पलता पर उद्धृत पृ० 108
3. वृहस्पति स्मृति - 26/97 जंगमं स्थावरं हेमं रूप्यधान्यरसाम्बरम्।
   आदाय दापयेच्छ्राद्धं मासषाणमाषिकादिकम्।।
4. कात्यायन स्मृति सारोद्धार, श्लोक 924, "मृतेभर्तरि भर्त्रशं लभते कुलपालिका भावज्जीवं नहि तत्स्वाम्यं दानाधमन विक्रये।।"
5. मजूमदार, आर० सी० दि हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 1 पृ० 610

सम्पत्ति की अधिकारिणी मानते हुए, उसे सम्पत्ति का सदुपयोग, पति की मृत्योपरान्त उसकी आत्मा की शान्ति के लिए प्रेत-कार्य करने हेतु तक का उल्लेख किया गया है। इस सन्दर्भ में काणे[1] अपना मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं, कि यद्यपि पति की सम्पत्ति पर मृत्योपरान्त उसके सगे भाइयों का अधिकार था, फिर भी पति के श्राद्ध आदि कार्य सम्पन्न करने का अधिकार विधवा पत्नी को ही था। इन तथ्यों के आलोक में ऐसा ज्ञात होता है कि आलोच्यकाल तक आते-आते श्राद्ध कर्म सम्पन्न करने वाले को सम्पत्ति का दायाधिकारी समझा जाने लगा था।

विवेच्यकाल में यद्यपि स्त्रियों को यज्ञादि कार्य करने का अधिकार समाप्त कर दिया गया था, और विधवा स्त्री द्वारा किसी भी प्रकार के धार्मिक यज्ञ के सम्पन्न करने का निषेध था, परन्तु कतिपय अभिलेखीय साक्ष्यों से अपवाद स्वरूप विधवा रानी द्वारा यज्ञ सम्पन्न करने का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ इतिहासकार वी० वी० मिराशी[2] ने सातवाहन वंशीय रानी नागनिका द्वारा वैधव्य के पश्चात् ब्राह्मणों के सहयोग से अंगरिसामयन, त्रयोदशातिरात्र, दशरात्र्य एवं श्रौत यज्ञों के सम्पन्न होने का उल्लेख किया गया है।

ब्यूलर महोदय ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णित कथन के आधार पर स्त्रियों द्वारा

---

1. काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ० 1151
2. मिराशी- सातवाहन एवं पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास एवं अभिलेख पृ० 111

   नोट– नाणेघाट अभिलेख की पंक्ति संख्या 17-22 में नागनिका के द्वारा सम्पादित यज्ञों का वर्णन है, किन्तु अभिलेख भग्नावस्था में होने के कारण स्पष्ट ज्ञात नहीं है।

यज्ञ करने के निषेध कासमर्थन करते हुए, उपर्युक्त मत को अपवादस्वरूप माना है।[1]

स्मृतियों की टीकाओं में विधवाओं के लिए संयमित एवं सात्विक जीवन यापन को श्रेष्ठ बताया गया है।[2] जो उनके वैधव्य के पश्चात् परिवार एवं समाज द्वारा उपेक्षित होने से स्वतः उनके भीतर उत्पन्न होता था। वैधव्यता को तत्कालीन समाज में पापकर्मों का फल माना जाता था एवं उस पाप से मुक्ति के लिए, विधवा स्त्री तप, दान ब्रह्मचर्य इत्यादि व्रतों द्वारा प्रयास करती थी। पराशर स्मृति में भी विधवा के सात्विक जीवन की प्रशंसा की गयी है।[3] बाणभट्ट (6-7 वीं शती) द्वारा अपने ग्रन्थ कादम्बरी में महाश्वेता द्वारा वैधव्य प्राप्त करने के पश्चात्, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तपस्विनी काज ईवन स्वीकार करने का उल्लेख किया है।[4] आदिपुराण[5] (9वीं शती ई०) में भी विधवा स्त्री द्वारा धार्मिक जीवन यापन का समर्थन किया गया है। इस पुराण में विधवा स्त्री द्वारा दान, व्रतोपवास, हरिभजन एवं आत्मशोधन द्वारा स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग बताया गया है।

स्कन्दपुराण[6] के अनुसार विधवा स्त्री को अपनी शक्ति के अनुसार व्रत उपवासादि

---

1. एशियाटिक सोसाइटी ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, जिल्द 5. पृ० 66-67. आपस्तम्ब धर्म सूत्र 2.6.15.17
2. आर० सी० मजूमदार-दि क्लासिकल एज पृ० 572
3. पराशर स्मृति, 4.31
4. कादम्बरी पूर्वार्द्ध पृ० 501
5. डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री-आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० 183
6. स्कन्दपुराण - काशीखण्ड 4.75-76

रखने का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार विधवा को यथाशक्ति तीन दिन, पांचरात्रि या लगातार 15 दिन या महीने भर व्रत रखना चाहिए। सम्भवतः इन व्रत उपवासादि का मुख्य उद्देश्य धार्मिकता का सहारा लेकर, नियमों का पालन करते हुए कायाक्लेश द्वारा पापों को नष्ट करना था।[1]

विधवा स्त्री के लिए नवरात्रि एवं एकादशी के व्रत को श्रेयस्कर माना गया है।[2] स्कन्दपुराण के अनुसार विधवाओं के लिए एकादशी का व्रत लाभकारी था।[3] अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं पापों से मुक्ति के लिए विधवा स्त्रियों द्वारा दान एवं तीर्थयात्रा इत्यादि करने के नियमों का विधान भी तत्कालीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। विधवाओं के द्वारा अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं धर्म के पालनार्थ यथा शक्ति, धन, गाय, भूमि, वस्त्र एवं खाद्यान्नों का दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है। फाह्यान[4] के यात्रा विवरण से भी बौद्ध संघ में धर्मार्थ दान देने का उल्लेख मिलता है।

चालुक्य सम्राट विनयादित्य की विधवा रानी द्वारा (696 ई०) वातापी में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिमाओं की स्थापना की गयी थी।[5] नेरूर ताम्रपत्र में राजा चन्द्रादित्य

---

1. काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 4, पृ० 20 पर उद्धृत देवल स्मृति
   'व्रतोपवास नियमैः शरीरोत्तापनैस्तथा।
   वर्णाः सर्वेऽपि मुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः।।"
2. देवीभागवत् पुराण, 3/27/5-18
3. जे० ए० डुवोइस; हिन्दू मैनर्स भाग 2, पृ० 217, पाद टिप्पणी 2; ब्रह्मवैवर्त पुराण 4/26/4-2; स्कन्दपुराण श्रीकृष्णजन्मखण्ड 26/36
4. दि ट्रैवेल्स आफ फाह्यान अध्याय 16, पृ० 45
5. याजदानी - दकन का प्राचीन इतिहास, पृ० 210

की विधवा रानी विजय भट्टारिका द्वारा दान का उल्लेख मिलता है।[1] 7वीं शती ई० में राष्ट्रकूट कालीन विधवाओं द्वारा मन्दिर को धर्मार्थ दान देने का उल्लेख मिलता है।[2] 8वीं शताब्दी में उड़ीसा के भौमकर वंश की त्रिभुवन देवी एवं दण्डी महादेवी नामक दो विधवा रानियों द्वारा धार्मिक कार्य के लिए भूमिदान का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में मिलता है।[3]

काश्मीर में भी विधवा रानी सुगन्धा[4] एवं दिद्दा[5] द्वारा धार्मिक उद्देश्य के तहत अनेक मन्दिरों, विहारों का निर्माण करवाया गया था एवं उन्हें दानादि भी दिया गया था। कश्मीर शासक गोपालवर्मा (902-4 ई०) के मृत्युपरान्त, उसकी बड़ी विधवा रानी द्वारा नंदामठ केशव का निर्माण करवाया गया था।[6]

व्रत दानादि के अतिरिक्त विधवाओं के द्वारा सम्पादित धार्मिक कृत्यों में तीर्थयात्रा का भी विशेष महत्व है। पुराणों में तीर्थयात्रा के महत्व का उल्लेख किया गया है, पवित्र स्थानों (तीर्थों) एवं दानादि से मन शुद्धि होता है व मानसिक शान्ति मिलती है।[7] तीर्थयात्रा की प्रशंसा करते हुए, विधवाओं द्वारा तीर्थयात्रा अवश्य किये जाने पर बल

---

1. इण्डियन एंटिक्वेटी जिल्द 7 पृ० 163-64, जिल्द 8 पृ० 45-46
2. याजदानी, पूर्वोक्त भाग 1, पृ० 242
3. एपिग्राफिका इण्डिका जिल्द 6, पृ० 133-40
4. राजतरंगिणी, अध्याय 5, 244
5. वही अध्याय 6, श्लोक 299, 300, 301-4, 306-8
6. वही अध्याय, 5, श्लोक 245
7. स्कन्दपुराण 1.1.31-37

दिया गया। स्कन्द पुराण[1] में एक स्थल पर वर्णित है, कि विधवाओं को पति के आध्यात्मिक लाभ हेतु वैसाख, कार्तिक एवं माघके महीने में विशेष नियमों का पालन करते हुए, पवित्र तीर्थों की यात्रा करके पति की प्रिय वस्तुओं का दान किया जाय। इसी पुराण में वैसाख में त्रिधवा स्त्री को जलयुक्त घड़े का दान, गौशाला की स्थापना, ब्राह्मण को द्रव्य, अंजन, छत्र, कपड़ा, चन्दन, कपूर, ताम्रपत्र, पुष्प, अनेक पेय पदार्थ इत्यादि दान करने का उल्लेख मिलता है। कार्तिक मास में मौन व्रत धारण करती हुई घी के दीपक, मन्दिर में घण्टा, फूल, शय्या एवं गाय का दान एवं माघ मास में सूर्योदय से पूर्व स्नान करके ब्राह्मणों, यतियों को मिष्ठान, पकवान एवं रजाई कंबल घर, एवं सुगंधित लेप आदि का दान करने का विधान किया गया है एवं ऐसी पतिव्रता विधवाओं को गंगा के समान पवित्र, उमाशंकर की तरह पूज्य और मरने के बाद स्वर्ग की अधिकारिणी कहा गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के समालोचना से विदित होता है कि विधवाओं को समाज द्वारा बनाये गये, विधानों से दुरूह एवं कठिन कायाक्लेश युक्त, असहनीय सामाजिक एवं धार्मिक जीवनों के पालने करने पड़ते थे। इनके विवेचनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व मध्यकालीन उत्तरी भारत की विधवाओं का सामाजिक जीवन अत्यधिक उपेक्षित था, उन्हें अमंगलकारी समझा जाता था, एवं कड़े यम-नियमों द्वारा उनको नियन्त्रित किया जाता था।

विवेच्यकालीन सामान्य विधवाओं के अतिरिक्त कुलीन राजपरिवारों से सम्बन्धित विधवाओं के भी कतिपय ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनसे मालूम होता है कि इनके जीवन

---

1. स्कन्दपुराण काशीखण्ड, 4.82-87; 4.90-93; 4.94-99; 4.10-106

उतना असहनीय व पीड़ादायक नहीं था उन्हें सामान्य विधवाओं कीतरह कठिन सामाजिक परिस्थितियों से साक्षात्कार नहीं होना पड़ता था। इन कुलीन राजपरिवार की विधवाओं ने आपद्काल में (पुत्र के अल्पवयस्क होने के कारण उनकी संरक्षिका के रूप में) राजनीतिक अधिकारों का उपभोग किया।[1] एवं अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करते हुए, तत्कालीन विपरीत सामाजिक परिस्थितियों को दृढ़ता से सामना करते हुए समाज में एक आदर्श स्थापित किये गये।

उत्तरी भारत में प्रशासन करने वाली विधवा रानियों में चतुर्थ शती ई० में मध्य प्रदेश में वाकाटक नरेश इन्द्रसेन द्वितीय (385-390) की विधवा रानी प्रभावती गुप्ता का नाम उल्लेखनीय है। जिसने अपने दोनों अल्पवयस्क पुत्रों (दिवाकर सेन और दामोदर सेन) की संरक्षिका के रूप में शासन भार संभाला था। प्रभावती गुप्ता ने अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय के सहयोग से 390-510 ई० तक संरक्षिका के रूप में शासन किया था।[2]

9वीं शती ई० में उड़ीसा के भौमकर वंशीय कुछ रानियों द्वारा राज्य करने की जानकारी प्राप्त होती हैं। इस सन्दर्भ में रानी त्रिभुवन महादेवी[3] द्वारा (जो शान्तिकर 829 की विधवा थी) शासन की बागडोर संभालने का उल्लेख मिलता है। इनको गोस्वामिनी के नाम से भी जाना गया है। इसी प्रसंग में शुभकर चतुर्थ (कुसुमहार द्वितीय) की

---

1. जोशी, एम० सी० : प्रिंसेस एण्ड पॉलिटी इन एन्शिएण्ट इण्डिया, मेरठ, 1986 एवं एस० आर० गोयल, कौटिल्य एण्ड मेगस्थनीज, मेरठ, 1985- पृ० 39-41।
2. यू० एन० राय, : गुप्त राजवंश तथा उनका काल, पृ० 657-659
3. मेहताब, हरेकृष्ण - हिस्ट्री आफ ओरिसा, जिल्द 1, पृ० 137-38

विधवा त्रिभुवन महादेवी द्वितीय अर्थात् पृथ्वी महादेवी[1] (894 ई०-896 ई०) सत्तारूढ़ हुयी। भौमकर वंश में तृतीय सत्तारूढ़ रानी शिवकर तृतीय की विधवा रानी त्रिभुवन महादेवी तृतीय का उल्लेख किया गया है, जिसे सिद्धगौरी के नाम से भी जाना जाता था। जिसने राजनीतिक अव्यवरथा के दौर में अपने सामन्तों के अनुरोध पर शासन की बागडोर संभाली थी।[2] रानी ने अपने आप को वैष्णवी कह कर सम्बोधित किया और कुशलता पूर्वक अपने साम्राज्य की रक्षा करते हुए शासन किया।

इसी वंश में शुभकर पंचम के पश्चात् उत्तराधिकारी न होने के कारण, दशवीं शती से साम्राज्य में अन्त तक कुछ अन्य विधवा रानियों द्वारा कुशलता से शासन करने का उल्लेख भी मिलता है। जिनमें शुभकर पंचम के मृत्योपरान्त उनकी पहली पत्नी 'गोरी महादेवी' द्वारा राजनीतिक सत्ता संभालने की जानकारी मिलती है।[3] जिनका उपनाम त्रिभुवन महादेवी था।[4] इनके शासन की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त थी और प्रजा इनके सामने नतमस्तक थी। कुमरंगमपत्र सं० 187 (92 ई०) में इनके दीर्घकालीन शासन व्यवस्था की प्रशंसा की गयी है।[5] भौमकर वंश की अगली शासिका 'दण्डी महादेवी' बनी। इन

---

1. मिश्रा, विनायक- ओरीसा अण्डर दि भौम किंग्स पृ० 32-39
2. जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 2, 1916, भाग 4, पृ० 419-24
3. जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी भाग 2, पृ० 422-23
4. एच० पाण्डेय - जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 4, भाग 4, पृ० 569
5. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली जिल्द 21, पृ० 218; जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 4, भाग 4, पृ० 564-72

दोनों विधवा रानियों ने न केवल राजाज्ञा पत्र घोषित किये अपितु परमभट्टारिका, परममाहेश्वरी, महाराजाधिराज एवं परमेश्वरी की उपाधि भी धारण की।[1] इन रानियों की उपाधियों से उनके शासन की कार्यकुशलता एवं प्रसिद्दि पर व्यापक प्रकाश पड़ता है। दण्डी महादेवी के पश्चात् शुभकर पंचम की द्वितीय विधवा 'वकुल महादेवी' भौमकर वंश की सत्ता की बागडोर सम्भाली। यह धार्मिक प्रवृत्ति की शासिका थी, जिसकी प्रशंसा 'तलतलि ताम्रपत्र' में धर्म की 'दीपशिखा' 'कहकर की गयी है।[2]

इस राजवंश की राजनीतिक शक्ति का भोग करने वाली अन्तिम रानी शान्तिकरदेव तृतीय (लोणभार द्वितीय) की विधवा पत्नी 'धर्ममहादेवी' थी।[3] इसने 10वीं शती० ई० तक उड़ीसा के भौमकर वंश की शासन डोर सम्भाले रखी, इसके पश्चात् अन्ततोगत्वा यह राज्य दक्षिणी कोशल में शामिल हो गया।

. दसवीं से बारहवीं शती ई० के मध्यराजपूतों के इतिहास में भी ऐसी अनेक विधवाओं का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने आपातकालीन स्थितियों में अथवा अल्पवयस्क पुत्र की संरक्षिका के रूप में राज्य की बागडोर सम्भाली[4]। इसमें कदम्ब नरेश जयसिंह (1031-1037 ई०) के मृत्योपरान्त उनकी विधवा पत्नी 'अम्का देवी' द्वारा संरक्षिका के

---

1. जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द 2, पृ० 422-23
2. इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 21, पृ० 218
3. मेहताब, हरेकृष्ण – हिस्ट्री आफ ओरीसा, जिल्द 1, पृ० 141
4. शर्मा, दशरथ – राजस्थान थ्रू द एजेज, बीकानेर 1966, टॉड एनाल्स एण्ड एन्टीक्वीटीज आफ राजस्थान, भाग 1, पृ० 303-4

रूप में शासन की बागडोर संभालने का उल्लेख मिलता है।[1] अम्का देवी द्वारा पुत्रों के वयस्क होने के पश्चात् भी प्रशासनिक सहयोग दिये जाने का उल्लेख अनेक तत्कालीन अभिलेखों में मिलता है।[2] 1087 ई० के अभिलेख से कल्याणी के चालुक्य शासक सोमेश्वर द्वितीय के मृत्योपरान्त उसकी दो विधवा पत्नियों कंचलदेवी और मैललदेवी एवं उसकी बहन 'सुग्गलदेवी' के द्वारा प्रशासन के संचालन का उल्लेख मिलता है।[3]

इसी तरह मेवाड़ के शाकम्भरी चाहमान नरेश सोमेश्वर (1193 ई०) के मृत्योपरान्त उसकी विधवा 'कर्पूररेखी' ने अपने पुत्र पृथ्वीराज तृतीय की संरक्षिका के रूप में शासन किया।[4] जयानक ने अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज विजय'[5] में कर्पूर देवी के तत्कालीन प्रशासन की तुलना राम राज्य से करके उसके सुशासन की प्रशंसा की है। चित्तौड़ के राजपूतों के इतिहास में सामन्त समरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसकी तीसरी पत्नी कूरमदेवी (कूर्मा देवी) द्वारा 1192 ई० में अपने अल्पवयस्क पुत्र करनसिंह प्रथम की संरक्षिका के रूप में राज्य सत्ता के दायित्व को वहन करने का उल्लेख मिलता है। इस रानी द्वारा पति की मृत्योपरान्त अवशिष्ट राजपूत सेना केसंचालन एवं कुतबुद्दीन ऐबक के साथ

---

1. एपीग्राफिका इंडिया, जिल्द 16 पृ० 79-88
2. एपीग्राफिका इण्डिया, जिल्द 16 पृ०, 79; फ्लीट– कनारीज डाइनेस्टीज पृ० 437
3. साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्सन्स जिल्द 9, भाग 1, पृ० 134
4. शर्मा, दशरथ– राजस्थान थ्रू द एजेस भाग 1, पृ० 358; अर्ली चौहान डायनेस्टी, पृ० 41
5. पृथ।वीराज विजय 9.1-2, इतिहृदगतेन द (यितेन रु) द्रतामुपज ग्मुषा मुषितमोहमोहदा। अपवर्गपद्धतिमिवानुपप्लवां तनयश्रियं नृपवधूरशिश्रियम्। शशिसूर्ययोः ससुतयोर्हि मानसं कुलपक्षपातर्यातमात्रमश्नुते। परिपालितां स्वयमेवक्ष्य मातरं न महीसुतः स्पृशति जानुवक्रनाम्।।"

बहादुरी पूर्वक लड़ते हुए, विजय प्राप्त करने का प्रसंग मिलता है।[1] 1178 ई० में गुजरात के चालुक्य युवा शासक मूलराज द्वितीय ने, अपनी विधवा माता नायिका देवी के नेतृत्व में मुहम्मद गोरी को बुरी तरह परास्त करके, उसे भागने के लिए विवश करने सम्बन्धित बहादुरीपूर्ण कार्य की जानकारी मिलती है।[2]

उत्तरी भारत में सातवीं से बारहवीं शती ई० में विधवाओं की राजनीतिकस्थिति के सन्दर्भ में कश्मीर की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ की कई शासिकाओं द्वारा वैधव्य होने के पश्चात् कुशलतापूर्वक राज्यसत्ता सम्भालते हुए, इतिहास को गौरवान्वित किया गया है। इस विषय में महारानी सुगन्धा एवं दिद्दा का विशेष रूप से उल्लेख है। कश्मीर की रानीसुगन्धा द्वारा अपने पति शंकरवर्मा (883-902) की मृत्यु के पश्चात्, अपने अल्पवयस्क पुत्र गोपालवर्मन की संरक्षिका बनकर राज्य प्रशासन संभालने सम्बन्धित जानकारी मिलती है।[3]

कश्मीर की दूसरी महत्वपूर्ण शासिका क्षेमेन्द्रगुप्त (950-958) की विधवा दिद्दा थी, जिसने अपने अपवयस्क पुत्र एवं पौत्र की संरक्षिका के रूप में एवं पूर्व साम्राज्ञी के रूप में (958-1000 ई०) तक शासन का संचालन किया।[4] जिसके द्वारा अपने

---

1. दशरथ शर्मा, पूर्वोक्त पृ० 81
2. वही, पृ० 458
3. राजतरंगिणी अध्याय 5 श्लोक 221

"पुत्रं गोपालवर्मारथं न्यासीकृत्य च रक्षितुम्।
शिशुदेश्यम् महादेव्याः सुगन्धाया अबान्धवम्।"

4. वही 8.11 374.

साम्राज्य में व्याप्त कलहों को दूर करके, शान्ति एवं स्थायित्व प्रदान किया गया, तथा अनेक मठों, मन्दिरों एवं विहारों की स्थापना करवायी गयी। रानी दिद्दा ने वृत्ताकार ताम्र मुद्राएं भी चलवायी, जो 76.4 से 90.2 ग्रेन भार की थी इसके मुख भाग पर लक्ष्मी की आकृति पृष्ठ भाग पर खड़ी मुद्रा में पुरुष आकृति है एवं 'श्री दिद्दा' नामक लेख अंकित है।[1]

इस प्रकार उक्त विश्लेषणों के आधार पर विधवाओं के सामाजिक जीवन में जहाँ एक तरफ सेवनीय और असेवनीय वस्तुओं का उल्लेख किया गया है, तो दूसरी ओर उनके हेतु अनेक प्रकार के धार्मिक कर्तव्यों के पालनों का विधान किया गया है। इसके विपरीत कुलीन घरानों की विधवाओं के कुशलतापूर्वक धार्मिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों के पालन करने का उल्लेख मिलता है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती कालीन परम्पराएं एवं मान्यताएं पूर्वमध्यकालीन समाज में परिवर्तित हो चुकी थी, उसमें विधवाओं की स्थिति दयनीय और कुछ निर्योग्यताएं बढ़ गयी थीं एवं समाज का दृष्टिकोण बदलकर रूढ़िवादी एवं कठोर हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप समाज में सती प्रथा जैसी भयावह प्रथाओं का प्रादुर्भाव हुआ।

---

1. वी० ए० स्मिथ, – कैटलाग आफ द क्वायन्स इन दि इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता, जिल्द 1 पृ० 270

मुण्डन

सात्विक जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं के लिए सन्यासियों की भांति सिर के बाल काटने से सन्दर्भित यह एक दुर्भाग्यपूर्ण प्रथा थी। जिसे धार्मिकता के साथ समन्वित करके समाज में प्रचलित किया गया एवं यह कहा गया कि जिस प्रकार सन्यासी अपने वाह्य सौन्दर्य की परवाह न करते हुए अपने बालों को मुंडवा कर कठिन तपस्या में लीन हो जाता है, उसी प्रकार विधवा को भी अपने केश मुंडवा कर कठिन तपश्चर्या का पालन करना चाहिए। इस क्रिया के पीछे मुख्य उद्देश्य सम्भवतः विधवाओं के वाह्य सौन्दर्य को नष्ट करना था, ताकि वह मोह-माया व सांसारिक वस्तुओं से मुक्त होकर सात्त्विक जीवन यापन करे और उसके चारों तरफ का वातावरण भी पवित्र बना रहे।

सात्विक जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं का उल्लेख करते हुये, स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में इस सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है कि यदि विधवा अपने बालों को बांधती है तो उसके पति की आत्मा बंधक बनी रह जाती है और वह मुक्त नहीं हो पाती, तथा यह घोर पाप है।[1]

इस प्रथा के आगमन एवं प्रचलन के विषय में विस्तृत एवं व्यापक जानकारी का पूर्णतया अभाव है। बौद्ध और जैन भिक्षुणियों के बालों के मुण्डन का उल्लेख मिलता

---

1. स्कन्दपुराण, काशीखण्ड 4-74

विधवाकबरीबन्धो भर्तृबन्धाय जायते।

शिरसो वपनं तस्मात्कार्यं विधवया सदा।।

है और उनके ब्रह्मचर्य जीवन का भी उल्लेख आता है। जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि विधवाओं का जीवन भी ब्रह्मचर्य होने के कारण, उसने मुण्डन की प्रथा यहीं से ग्रहण की होगी।

यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इस प्रथा की प्राचीनता वैदिक काल से बतायी है और अपने मत के समर्थन में अथर्ववेद[1] में एक स्थल पर आये 'विकेशी' शब्द का अर्थ विधवा के मुण्डन से लगाते हैं, किन्तु 'विकेशी' शब्द का यह अर्थ समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इस मन्त्र में इसका अर्थ विवाह के अवसर पर विदाई के समय कन्या के रुदन के कारण बिखरे हुए बालों से है। अतः इस प्रसंग में विकेशी का तात्पर्य मुंडित सिर वाली विधवा न होकर बिखरे हुए केशों वाली स्त्री से है। अपने मत के समर्थन में यास्क द्वारा 'निरुक्त' में अपने से पूर्व के विद्वान् चर्मशिरम् के मत का उल्लेख किया गया है। जिसमें शिर के बालों को छिलवाने के कारण मृतपतिका स्त्री को विधवा की संज्ञा दी गयी है।[2]

कुछ अन्य विद्वानों ने 'चर्मशिराः' का अर्थ, मुण्डित सिर की विधवा से लगाया है, किन्तु यह मत भी सर्वथा गलत सिद्ध होता है, क्योंकि (चर्मशिर का अर्थ 'निरुक्त' के टीकाकार द्वारा गलत लगाया गया है) यहाँ पर प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ यास्क के पूर्ववर्ती किसी आचार्य के नाम से है। अतः इस प्रथा को वैदिक कालीन बताना

---

1. अथर्ववेद (14) 1.60

   यदीहं दुहिता तव विकेश्यरूद्द गृहे कृण्वत्यद्यम्।
   अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुंचताम्।।

2. निरुक्त 3.15, 'विधवनाद्वा विधवा इति चर्मशिराचार्यो मन्यते।।

समीचीन नहीं प्रतीत होता है। महाभारत में भी धृतराष्ट्र की विधवा वधुओं के सुन्दर केशों का वर्णन किया गया है।[1] जिससे तत्कालीन समाज में विधवा के मुण्डन के प्रचलन न होने की जानकारी मिलती है। अपितु केशों के श्रृंगार न करने का वर्णन मिलना है। अभिलेखिक साक्ष्य 'पहेवा' प्रशस्ति में भी विधवा के केशयुक्त होने का उल्लेख है। इस अभिलेख में शत्रु की विधवाओं के सुन्दर केशों का वर्णन मिलता है।[2] अतः मुण्डन की इस परम्परा 'प्राचीन' का प्रचलन तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि उस काल के लोग इस प्रथा से अनभिज्ञ थे।

छठी-सातवीं शती ई० तक विधवाओं के लिए वर्णित कर्तव्यों में से मुण्डन की प्रथा से सर्वथा अनभिज्ञ थे।[3] विधवाओं के कृत्या-कृत्यों का विस्तार से उल्लेख करने वाले मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु, पराशर इत्यादि सभी स्मृतिकार विधवा के मुण्डन के सन्दर्भ में कोई प्रकाश नहीं डालते हैं। वृद्धहारीत (6वीं-9वीं शती ई०) द्वारा अपने स्मृति ग्रन्थ में, विधवाओं के जीवन-पर्यन्त सात्विक जीवन यापन का वर्णन किया गया

---

1. महाभारत XV, 27-16

   एतास्तु सीमन्त शिरोरूहा या शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः

   राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शताख्याः स्नुषा नृतीराहतपुत्रानाथाः।।

2. 'मदनपाल का पहेवा अभिलेख 900 ई० एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द I, पृ० 247

   'सरलित प्रचुरालकजातकाः।"

3. ब्रह्मवैवर्त पुराण 83-101

   न कुर्यात्केशसंस्कारं गात्रसंस्कारमेव च।"

है, परन्तु विधवा के मुण्डन पर उनके द्वारा भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उनके द्वारा विधवाओं को बालों के न रंगने व गन्ध, पुष्प इत्यादि प्रसाधनों के प्रयोग करने को निषिद्ध बताया गया है।[1]

व्यास स्मृति में (6-9वीं शती ई०) में कुछ ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जो सम्भवतः इस प्रथा पर प्रकाश डालते हैं। व्यास स्मृति में सर्वप्रथम यह उल्लेख मिलता है कि यदि विधवा सती नहीं होती थी, तो उसे अपना बाल अवश्य मुण्डन करवा कर तप करते हुए अपने शरीर को क्षीण कर देना चाहिए।[2] परन्तु व्यास स्मृति में प्रयुक्त 'त्यक्तकेशा' शब्द विवादास्पद है। काणे[3] द्वारा इसके तीन प्रकार से उल्लेख किया गया है। प्रथम- वह जिसने अपने केशों का श्रृंगार करना छोड़ दिया हो। द्वितीय - वह, जिसके गोवध के प्रायश्चितार्थ दो अंगुल बाल काट दिये हों, तृतीय जिसका सिर मुंडित हो चुका हो। अतः व्यास स्मृति का उक्त कथन स्पष्टतः मुण्डन प्रथा के उल्लेखार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता है। काणे महोदय द्वारा इस प्रथा को केवल ब्राह्मणी विधवाओं के लिए स्वीकार करते हुए लिखा गया है कि, धर्मशास्त्रों में ब्राह्मणी विधवाओं के सती

---

1. वृद्धहारीत स्मृति, 11.205

केशरंजन ताम्बूलगंधपुष्पादि सेवनम्।
भूषणं रङ्गवस्त्रं च कास्यपात्रेषु भोजनम्।।

2. व्यास स्मृति, 1 53, यमस्मृति 2/53

मृतं भर्तारमादाय ब्राह्मणी वाह्निमाविशेत।
जीवन्ती चेत्यक्तकेशा तपसा शोषयेद्वपुः।।

3. काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 333

होने पर प्रतिबन्ध था, इसलिए सम्भवतः सात्विक जीवन में अपने केशों को मुंडवा लेती थी। इसके विपरीत व्यास का उक्त कथन पति के साथ सती न होने वाली उच्चवर्गीय विधवाओं से प्रासंगिक होता है।[1] इसके अतिरिक्त मत्स्य पुराण में एकस्थल पर विधवाओं के म्लान वस्त्रों एवं केशों का उल्लेख मिलता है।[2] बाणभट्ट (6वीं शती ई०) द्वारा अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' में विधवाओं के केशबन्धन का उल्लेख किया गया है।[3] इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में ऐसा प्रतीत होता है कि मुण्डन की प्रथा सम्भवतः सर्वप्रथम दक्षिण भारत में आयी होगी और वही से होती हुई उत्तर भारत में 9वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य सर्वप्रथम ब्राह्मण समुदाय में आयी और उसके वाद इसकी लोकप्रियता धीरे-धीरे अन्य समुदाय पर भी पड़ी। सम्भवतः 9वीं शती की स्मृतियों में मुण्डन की प्रथा का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। इस प्रकार 12वीं शताब्दी ई. तक यह प्रथा उत्तर भारत में पूर्णतया लोकप्रिय हो गयी थी।

इस प्रथा के सन्दर्भ में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्टेकर[4] द्वारा लिखा गया है कि हिन्दू विधवाओं में मुंडन की प्रथा भिक्षुणियों के अनुकरण स्वरूप लगभग 800 ई० के बाद प्रारम्भ हुयी होगी। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य विधवाओं के वाह्य सौन्दर्य को नष्ट

---

1. काणे, पी० वी०, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 333
2. मत्स्य पुराण, 154, 19
3. हर्षचरित, अंक 5, 'बन्धातु वैधव्य वेणीवर मनुष्यता"
4. अल्तेकर, पोजिशन आफ वूमेन इन एन्शिएंन्ट इण्डिया, पृ० 161 पृ० 159

करके कामुकों की कामुक दृष्टि से बचाकर ब्रह्मचर्य की ओर प्रेरित करना था। काणे[1] द्वारा भी उक्त मत का समर्थन करते हुए इसका प्रारम्भ 10-11वीं शती ई. के मध्य माना गया है। उनके अनुसार यह प्रथा बौद्ध भिक्षुणियों से नहीं ली गयी थी अपितु यह ब्राह्मणी यतियों में पहले से ही मौजूद थी।

यद्यपि यह प्रथा पूर्णतया जितनी तेजी से प्रसारित होकर समाज में छायी, उतना ही इसका विरोध भी हुआ। बहुत सी संहिताओं ने विधवाओं में मुण्डन का विरोध करते हुए लिखा गया है कि यह प्रथा विधवाओं में तभी लागू होनी चाहिए जब वे स्वेच्छा से इसका वरण करना चाहे।[2] वैष्णव धर्म में इसका प्रबल विरोध करते हुए लिखा गया है "जो विधवा स्त्री अपने केशों को मुंडवा लेती है वह चाण्डाली बन कर नरक में जाती है।"[3]

---

1. काणे, पी० वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 333
2. शम्भूसंहिता : जन्ममरोमणि या नारी क्षुरकर्म समाचरेत्।
   कन्या वा विधवा वापि रौरवं नरकं व्रजेत्।।
3. मनुसंहिता–

   भर्तृहीना तु या नारी मुंडियत्व समाचरेत।
   श्रौतस्मार्तानि कर्माणि चाण्डाली योनिमाप्नुयात्।।

   नोट – मनुसंहिता (मनु स्मृति से भिन्न) – छः टीकाओं सहित, सम्पादक, तेलंग, बम्बई, 1886

   [अल्तेकर के अनुसार, शम्भु संहिता, मनुसंहिता एवं हैयग्रीवस्संहिता 1000 ई. हि. सि. पृ. 161 पर पाद टिप्पणी 1]

इसलिये विधवाओं को भी अपनी मृत्युपर्यन्त केश धारण किया जाना चाहिये।[1] उपर्युक्त विरोधों के बावजूद यह परम्परा बाद के कालों तक प्रचलित रही और समाज बिना मुण्डन करायी विधवा को अछूत समझता था। विधवायें किसी धार्मिक क्रिया-कलाप में केश मुण्डन नहीं करवा सकतीं थीं। समाज के कुछ रूढ़िवादी लोग उसके हाथ का छुआ भोजन-पानी ग्रहण नहीं करते थे।

अतः इन साक्ष्यों के तुलनात्मक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मुण्डन की परम्परा भी विधवा के लिए एक निर्योग्यता थी जो समाज द्वारा उन पर लादी गयी थी। जिनको गम्भीर परिणाम की बात करके, यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया था, कि लोग इसे माने। मुख्यतः इसका उद्‌देश्य सामाजिक जीवन की मुख्य धारा से उसे अलग-थलग करने का प्रयास था।

---

1. हैयग्रीवस्ती संहिता– स्त्रीणां तु भर्तृहीनानां वैष्णववीनां वसुन्धरे।
यावच्छरीरपातं हि प्रशस्तं केशधारणम्।

प्रस्तुत संहिता द्रष्टय ऊपर पृ. 38 पर।

तृतीय अध्याय

विधवा के साम्पत्तिक अधिकार

तृतीय अध्याय

विधवा के साम्पत्तिक अधिकार

जीवन एक संघर्ष है। संघर्ष की इस प्रक्रिया से नारी भी अप्रभावित न रह सकी। नारी जीवन की सर्वाधिक संघर्षमय एवं दुःखदायी स्थिति उसका वैधव्य है। प्राचीन भारतीय विधवाओं की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट होता है, कि हिन्दू विधवायें समाज में अशुभ मानी जाती थी। उसे सामाजिक, धार्मिक एवं पारिवारिक कृत्यों में सर्वत्र उपेक्षित किया गया था। पति के मरणोपरान्त समुचित आश्रय छिन जाने से विधवाओं के समक्ष जीवन-यापन की विकट समस्या आती थी। इस समस्या का निदान विधवा को मृतक पति की सम्पत्ति का दायाद बनाकर किया जा सकता था, किन्तु प्राचीन काल में ऐसा विधान न होने के कारण उसे अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कालान्तर में धर्मशास्त्रकारों द्वारा इस समस्या का निदान किया गया।

प्राचीन काल में विधवाओं को सम्पत्ति के अधिकार से पूर्णतः वंचित किया गया था। वैदिक सन्दर्भों[1] एवं धर्मसूत्रों[2] आदि में कहीं भी विधवा को सम्पत्ति की अधिकारिणी

---

1. तैत्तरीय संहिता, 6,5,8,2 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रया अदयादी:"
   मैत्रायणी संहिता, 4.4.4- तस्मात्पुथान दायाद स्त्री अदायदी"
2. बौधायन धर्मसूत्र, 15. 113-115

का उल्लेख किया गया है। इस युग में सम्पत्ति के विभाजन में पुत्र को पिता की मृत्यु के उपरान्त उसका उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया गया है।[1] पूर्ववर्ती समाज में विधवा को सम्पत्ति का अधिकारी न मानने के पीछे तत्कालीन समाज में पुत्र को पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मानना था।[2] संभवतः जिसका मुख्य कारण तत्कालीन पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार था, जिसमें सम्पत्ति का स्वत्व सामूहिक माना जाता था।[3]

कालान्तर में परिवर्तित सामाजिक परिवेश में विभिन्न शास्त्रकारों एवं उनके टीकाकारों द्वारा विधवाओं को सम्पत्ति पर उत्तराधिकार दिलवाने का प्रयास किया गया है, किन्तु इस सम्बन्ध में उनके मतैक्य न होने के कारण एक जैसी धारणा बन पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य था।

विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के सम्बन्ध में जब हम मनु (दूसरी शती ई० पू०- दूसरी शती ई०) एवं याज्ञवल्क्य (6-12वीं शती ई.) (प्रथम-तृतीय शती ई०) एवं उनके टीकाकारों के दृष्टिकोण का अध्ययन करते हैं, तो विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं। पति के मृत्योपरान्त विधवा की रक्षा का भार स्मृतिकारद्वय द्वारा पुत्रों को सौंपकर विधवा को पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं स्वीकार किया गया है।[4]

---

1. दायभाग, 11/1/29; दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ० 111
2. अल्तेकर ए. एम., पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 25
3. 3. वही पृ० 9, 25
4. मनु० 9.3 : रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हन्ति।

   9.4 मृते भर्तरि पुत्रस्तु मातुर रक्षिता।

   याज्ञवल्क्यस्मृतिः 1.85 पुत्रास्तु वाद्यके।

उनके द्वारा विधवाओं को पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं स्वीकार किया गया हैं, अपितु मृतक के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का एकमात्र अधिकारी उसके पुत्र को माना गया है। स्मृतिकारों के अनुसार, "मृतक यदि पुत्रहीन है, तो उसकी सम्पत्ति क्रमशः पिता, भाई, सपिण्ड, सकुल्य, गुरु, शिष्य एवं राजा एक दूसरे के अभाव में ग्रहण कर सकते हैं"।[1] पुत्र के अभाव में माता को सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना गया था, विधवा को नहीं।[2] इस सन्दर्भ में पुत्रहीन विधवा के लिए नियोगका विधान किया गया है। इस सन्दर्भ में मनु लिखते हैं, "दूसरा भाई, मृत भाई की पत्नी केसाथ नियोग द्वारा पुत्र प्रदान करके अपने मृत भाई की सम्पत्ति उस पुत्र को प्रदान करे"।[3] अतः इस कथन से स्पष्ट होता है, कि मनु ने विधवा को किसी भी तरह का दायाद स्वीकार नहीं किया था। नियोग का विरोध करने वाले स्मृतिकार द्वारा भी, सम्पत्ति के अधिकार के सन्दर्भ में, नियोग को उचित ठहराया गया है। एक स्थल पर मनु द्वारा लिखा गया है कि माता-पिता के जीवित रहते पुत्र सम्पत्ति का विभाजन नहीं कर सकता था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ने सम्पत्ति की संरक्षिका विधवा को बनाया था।

कौटिल्य द्वारा भी यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से विधवाओं को सम्पत्ति पर अधिकार नहीं दिया गया, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से दायाद के अभाव में निःसन्तान विधवा के जीवन-यापन एवं पति के प्रेत कार्य हेतु राजा द्वारा अपहृत धन में से कुछ अंश देने का विधान किया गया है।[4]

---

1. मनु०, 9,185, 186, 189
2. वही, 9.217 अनपत्यस्यपुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।
3. वही 9, 146, 9, 190
4. कौटिल्य-अर्थशास्त्र 3.5। अदायादकं राजा हरेत्स्त्री प्रेत कार्य व जमन्यत्र वोत्रियद्रव्यात्ः ततत्रैविधेभ्यः प्रयच्छेत्।।

इस प्रकार प्राचीन क़ाल में धर्मशास्त्रकारों द्वारा विधवाओं के उत्तराधिकार में की गयी व्यवस्था, उसके आर्थिक पराश्रय एवं पराधीनता की द्योतक थीं, जिसके शिथिल होने अथवा पूर्णतया समाप्त होने में कई वर्षों का समय लग गया। पुनर्विवाह एवं नियोग के प्रचलन ने सम्पत्ति पर विधवाओं के हस्तान्तरण होने में बाधाएं उत्पन्न की।[1] कालान्तर में गुप्त युग तक आते-आते विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग-प्रथा को निन्दनीय कर्म समझा जाने लगा था और ऐसी परिस्थितियों में विधवा को सात्विक जीवन व्यतीत करने पर बल दिया जाने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप विधवाओं के भरण-पोषण के लिए साम्पतिक स्वत्व की आवश्यकता प्रबल हुई।[2] अतः धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य में भी परिवर्तन की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी, जिसके फलस्वरूप चौथी शती ई० से 12वीं शती ई० तक के धर्म शास्त्रकारों एवं विधिकारों द्वारा विधवाओं को सम्पत्ति के अधिकारिणी के रूप में स्वीकारोक्ति दी गयी।[3]

गौतम (600-300 ई० पू०) द्वारा इस सन्दर्भ में लिखा गया है कि विधवा को कम से कम अन्य सपिण्डों के बराबर सम्पत्ति का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए।[4]

किन्तु गौतम का यह मत प्रक्षिप्तांश प्रतीत होता है। उनके द्वारा उत्तराधिकार के क्रम में सबसे बाद में विधवा को माना गया है, जिसका तात्पर्य न के बराबर था, क्योंकि

---

1. एस० विश्नोई इकोनामिक स्टेट्स आफ वूमेन इन एन्शिएण्ट इण्डिया भाग 2, पृ० 19
2. मिश्र, डी० एन० - पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू लॉ, पृ० 433-46
3. विश्नोई, पूर्वाद्धत, भाग 8, पृ० 165
4. पिण्डगोत्रीर्षसम्बन्धा रिक्तं भजेरन्स्त्री चानपत्यस्य। गौतम धर्मसूत्र XVII 43

सपिण्डों की सूची इतनी लम्बी होती थी कि विधवा का नाम आना ही दुष्कर था।

सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य (100-300 शती० ई०) द्वारा ही विधवा को सम्पत्ति पर अधिकार प्रदान किया गया और इन्हीं के समय में सम्भवतः विधवायें साम्पत्तिक पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त हुयीं। याज्ञवल्क्य सर्वप्रथम ऐसे स्मृतिकार थे, जिन्होंने स्पष्टतः मृतक के बारह प्रकार के दायाद पुत्रों के अभाव में विधवा पत्नी को पति का सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना था। याज्ञवल्क्य द्वारा निर्धारित यह विधान ईस्वी सन् के प्रारम्भ से लेकर 20वीं शती के प्रथम चरण तक हिन्दू सभ्यता में विधवा के उत्तराधिकार के लिए मूलाधार था। इस प्रसंग में उनके द्वारा लिखा गया है कि, पुत्रहीन मृतक पुरुष की सम्पत्ति पर पत्नी, कन्यायें, दौहिज, माता-पिता, भ्राता, भातृज, गोत्रज, बंधु, शिष्य तथा सहपाठी इत्यादि में एक के न होने पर दूसरा क्रमशः उनका उत्तरवर्ती अधिकारी होता था।[1]

याज्ञवल्क्य की भांति विष्णु[2] (300-600 ई०) तथा शंख एवं देवल (600-900 ई०) द्वारा भी विधवाओं को मृत पति की सम्पत्ति की दायाद माना गया है। स्मृतिकार विष्णु द्वारा उत्तर भारत में सर्वप्रथम विधवाओं को संतानहीन पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना है।[3] इस प्रकार वरीयता क्रम में सबसे अन्त में माता को

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 2, 135-136 पत्नीदुहितरश्चैव पितरो भ्रातरस्तया। तत्सुता गोत्रजा बन्धु शिष्य सब्रह्मचारिणः एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेण्वयं विधिः
2. काणे ने विष्णु का समय 300-600 शती ई० माना है।
3. विष्णु स्मृति 17/4-13 'अपुत्रस्य धनं परन्यभिगामि। तद्भावे दुहितृगामि तद्भावे पितृगामी, तद्भावे मातृगामी।।"

सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है। इस प्रसंग में शंख द्वारा लिखा गया है, "पुत्रहीन मृतक का धन भ्राता को, उसके अभाव में माता-पिता को एवं इन सबके अभाव में उसकी ज्येष्ठ पत्नी को प्राप्त होता है।[1] देवल स्मृति (6-9वीं शती ई.) में भी विधवा को मृतक्र के भाइयों, कन्याओं तथा माता-पिता के पश्चात् सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है।[2]

याज्ञवल्क्य तथा विष्णु ऐसे पूर्ववर्ती स्मृतिकार थे, जिन्होंने स्पष्टतः पुत्रहीन मृतक की विधवा पत्नी को सम्पत्ति की अधिकारिणी स्वीकार किया था। विष्णु, शंख और देवल स्मृतिकारों में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी परिलक्षित होता है, कि जहाँ एक ओर विष्णु द्वारा पुत्रों के अयोग्य होने पर भी विधवा को सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है, वही पर शंख एवं देवल आदि स्मृतियों में सात सपिण्डों के अभाव में ही सम्पत्ति की अधिकारिणी विधवा को माना गया है। अतः विधवा को दायाधिकार दिलवाने के इन स्मृतिकारों के विधानों का विरोध भी स्वाभाविक था। फलतः 400-1000 ई० के मध्य के स्मृतिकारों को हम दो श्रेणी में विभाजित कर सकते हैं— (क) पारम्परिक स्मृतिकार- जो विधवा को सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित रखना चाहते थे, जिनमें नारद, कात्यायन एवं मनु जैसे स्मृतिकार थे। (ख) प्रगतिशील स्मृतिकार, जो युग परिवर्तन के अनुरूप विधवा को सम्पत्ति पर अधिकार दिलवाने के पक्षधर थे। उनमें वृहस्पति, वृद्ध, मनु, याज्ञवल्क्य, जीमूतवाहन इत्यादि प्रमुख हैं।

---

1. शंख लिखित स्मृति (विवाद रत्नाकर, पृद 593 में उद्धृत "स्वर्यातस्य पुत्रस्य भातृगामि द्रव्यम्। तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी।"
2. देवल स्मृति विवाद रत्नाकर पृ० 593 में उद्धृत।

नारद (100-400 शती० ई०) ने पुत्रविहीन होने पर विधवा के सम्पत्ति, भरण-पोषण और रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व पति के परिवार वालों को एवं उनके अभाव में पितृकुल को सौंपा है। पुत्र और पुत्री दोनों को वो पिता की सन्तान में वृद्धि करने वाला मानते थे और पुत्र के अभाव में पुत्री को सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मानते थे।[1]

नारद इसी सन्दर्भ में लिखते हैं कि, उत्तराधिकारी के अभाव में राजा को मृतक की सम्पत्ति हड़प करके उसकी पत्नी को भरण-पोषण के लिए धन देना चाहिए।[2] अतः यहाँ यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि नारद ने विधवा को सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी नहीं माना है।

विधवा के सम्पत्ति पर उत्तराधिकार के प्रबल समर्थक बृहस्पति थे। वृहस्पति (300-400 ई०) ने तर्क द्वारा विधवा के उत्तराधिकारों को सबल समर्थन प्रदान करते हुए लिखा है, कि वेद, स्मृतियों के सिद्धान्तों तथा लोकचार के अनुसार पत्नी पति की अर्धांगिनी थी और उसके प्रत्येक पुण्य तथा पाप के फल प्राप्ति में आधा भाग प्राप्त करती थी। अतः पति के मरने के बाद भी जब तक मृत व्यक्ति का आधा शरीर जीवित हो, (अर्थात् पत्नी मृत नहीं हो) तब तक कोई सपिण्ड उसके धन को नहीं प्राप्त कर सकता था। इसी सन्दर्भ में वृहस्पति द्वारा लिखा गया है, कि पति से पहले मरने वाली

---

1. नारद स्मृति 15.17

   पुत्राभावे तुदुहिता तुल्यं संतानवर्धनात्।

   पुत्रस्य दुहिता चौपौ पितुः सन्तान कारकाः।।

2. वही, 13, 52 अन्यत्र ब्राह्मणात्कन्तु राजा धर्मपरायणः।

   तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष धर्मः सनातनः।।

पत्नी अग्निहोत्र साथ ले जाती थी, किन्तु यदि पत्नी से पूर्व पति की मृत्यु होती थी, तो उसकी सम्पत्ति उसकी पतिव्रता पत्नी को प्राप्त होती थी। उनके अनुसार यह नियम ही सनातन धर्म था। वे पुनःलिखे हैं कि यदि सपिण्ड (पितृ कुल के सम्बन्धी), बन्धु (मातृकुल के सम्बन्धी) या शत्रु इस सम्पत्ति को हानि पहुँचाये तो राजा को उन्हें चोरों की भाँति दण्डित करना चाहिए।[1] इस तरह बृहस्पति द्वारा स्त्री को दायाद मानते हुए साध्वी विधवा को पति की चल एवं अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार प्रदान किया गया है।[2]

वृहस्पति के मत का समर्थन करते हुए कात्यायन (4-6वीं शती० ई०) द्वारा भी अच्छे चरित्र, ज्ञान, दानशीलता आदि को महत्वपूर्ण मानते हुए, ब्रह्मचर्य परक जीवन व्यतीत करने वाली साध्वी विधवा को ही पति की संपत्ति की उत्तराधिकारिणी माना गया है।[3]

1. बृहस्पति स्मृति 25, 46-47 (स्मृति चन्द्रिका पृ० 290 में उद्धृत)

   आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्ध स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा।। यस्य नोपरता भार्या देहार्ध तस्य जीवति। जीवत्यर्ध शरीरेऽर्थ कथमन्यः समाप्नुयात्। कुल्येषु विद्यमानेषु पितृभ्रातृ सनाभिषु। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्‌भागहारिणी।। पूर्व प्रगीताग्निहोत्रं मृते भर्तरि तद्धनम्। विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एव सनातनः।। तत्सपिण्डा बान्धवा वा ये तस्याः परिपन्थिनः। हिस्युर्धनानि तान् राजा चोरदण्डेन शासयेत्।

2. वही स्मृति चन्द्रिका पृ० 667 पर उद्धृत

   यद्विभक्ते धनं किंचिदाध्यादि विविधं स्मृतं। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभते मृतभर्तृका।। वृत्तस्थापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावमर्हति।

3. कात्यायन स्मृति (स्मृति चन्द्रिका 3 पृ० 292, दायभाग, 1,1.56)

   अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। भुँजीतामरणान्त्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः।।

कात्यायन ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाली स्त्री पति के मरने पर उसके अंश का जीवनपर्यन्त उपभोग करे। उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि कात्यायन ने विधवा को मात्र उपभोग का अधिकार दिया था, उनके विनियोग का नहीं। यदि वह सम्पत्ति का विनियोग करना चाहती थी, तो इसके लिए उसे पति के अन्य उत्तराधिकारियों से सहमति लेनी पड़ती थी, किन्तु इसमें भी धार्मिक कार्यों एवं पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिए ही वह धन व्यय कर सकती थी।

उपर्युक्त मतों के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विधवाओं को मृत पति की सम्पत्ति का दायाधिकारी 6वीं शती ई० तक मान लिया गया था। पूर्वमध्यकाल तक लगभग सभी धर्मशास्त्रकारों एवं स्मृतिकारों एवं उनके टीकाकारों ने विधवा पत्नी को दायाधिकारिणी घोषित कर, उसे अर्थस्वामिनी भी बना दिया था। जिससे विधवा की पराधीनता की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। यद्यपि यह काल सामाजिक परिवर्तन एवं ह्रास का युग समझा जाता है, किन्तु इस समय विधवाओं को सम्पत्ति पर स्वत्व का अधिकार दिया गया और उसे निर्विवाद रूप से मृत पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मान लिया गया।

---

1. कात्यायन स्मृति (स्मृति चन्द्रिका भाग 2, पृ० 292 पर उद्धृत

'मृते भर्त्तरि भर्त्रंशं लभते कुलपालिका। यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमन विक्रये। व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। दमदानरता नित्यमपुत्राऽपि दिवंव्रजेत्।।

शंख (600-900 शती० ई०) द्वारा संतानहीन मृतक की भाई एवं माता-पिता के उपरान्त उसकी विधवा को संपत्ति की अधिकारिणी माना गया है।[1] देवल (600-900 ई०) द्वारा भी दायाधिकार के प्रसंग में "मृत व्यक्ति के उपरान्त उसका भाई, पिता, सवर्ण भाई, और माता के उपरान्त उसकी विधवा को उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना गया है"।[2] व्यास का कथन है कि यदि पति की सम्पत्ति दो हजार पणों से अधिक न हो तो पत्नी उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण कर सकती थी।[3] डॉ० अल्तेकर ने उस समय की मुद्रा की क्रय शक्ति 10 हजार रुपये के बराबर आंकी है।[4]

इसके विपरीत वृद्ध मनु द्वारा 'पतिव्रता धर्म का पालन करने वाली, मृत पति के प्रेतकर्म इत्यादि को निष्ठा पूर्वक सम्पन्न करने वाली पुत्रहीन विधवा को मृत पति

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/136 पर विज्ञानेश्वर की टीका

   "स्वार्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं। तद्भावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी।।"

2. दायभाग 11/1/17 पर उद्धृत

   देवल ततो दायमपुत्रस्य विभजेयुः सहोदराः।। तुल्या दुहितरोणापि ध्रियमाणः पितापि वा।। सवर्णा भ्रातरो माता भार्या चेति यथाक्रमम्। एषमभावे गृहणीयुः कुल्यानां सहवासिनः।।

3. स्मृति चन्द्रिका भाग 2 पृ० 28 पर उद्धृत व्यास का मत

   'द्वि साहस्रः परो दायः स्त्रियो देयो धनस्य वै। भर्त्रा यच्चधनं दत्तं सा यथाकालमाप्नुयात्।।

4. अल्तेकर पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० 255, पाद टिप्पणी 1.

की सम्पूर्ण सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया है।[1]

इसी प्रसंग में श्रीधर ने लिखा है कि पति द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति यदि कम है तो वह सम्पूर्णसम्पत्ति पत्नी प्राप्त करती थी, किन्तु यदि अधिक सम्पत्ति हो, तो विधवा को मात्र भरण-पोषण के लिए ही धन मिलना चाहिए।[2] यही ही नहीं, वृद्ध विष्णु द्वारा बिना किसी शर्त के पत्नी को उत्तराधिकार के वरीयता क्रम में प्रथम स्थान प्रदान किया गया है।[3]

प्रजापति द्वारा भी विधवा को मृत पति कीसम्पूर्ण सम्पत्ति तथा आभूषणों की उत्तरधिकारिणी मानते हुए लिखा गया है कि यदि कोई पुरुष सम्बन्धी उसके शान्तिमय जीवन में बाधा उत्पन्न करे, तो राजा द्वारा हस्तक्षेप करके उसे दण्डित करना चाहिए।[4] इस प्रसंग में हारीत द्वारा भी मत व्यक्त करते हुए कहा गया है कि युवावस्था में वैधव्य प्राप्त होने से स्त्री कर्कशा हो जाती थी अतः भरण-पोषण के लिए सम्पत्ति का उचित अंश उसे प्रदान करना चाहिए।[5]

---

1. कोलब्रुक— सप्लीमेन्ट्स टू दि स्टूडेंट्स कम्पेनियन्स इक्स्ट्रैक्ट्स, पृ० 41 पर उद्धृत वृद्ध मनु का मत मिताक्षरा भाग 2, पृ० 135-36 पर उद्धृत

   "अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती पतिव्रता। पत्न्येव दद्यात्पिण्डं कृत्स्नमंशं लभेत च।।

2. काणे, पी० वी०- धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ० 907-8
3. याज्ञवल्क्य स्मृति 2/135-36 की विज्ञानेश्वर टीका में उद्धृत वृद्ध विष्णु का मत
4. तत्सपिण्डा बान्धवाश्च.............चौर्यदण्डेन शासयेत्।। प्रजापति। स्मृति चन्द्रिका भाग 2, पृ० 294, विवाद चिन्तामणि पृ० 151।
5. हारीत- वीरमित्रोदय 639, व्यवहार मयूख 137-40 पर उद्धृत–

   'विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा। आयुषः क्षपणार्थं हि दातव्यं जीवनं सदा।"

विधवाओं को यद्यपि साम्पत्तिक स्वत्व का उत्तराधिकार प्राप्त हो चुका था, किन्तु साम्पत्तिक अधिकार सम्बन्धी अवधारणा ने कई समस्याओं को जन्म भी दिया। अधिकांश धर्मशास्त्रकारों ने जहाँ एक ओर इसे अपना समर्थन देकर, इसके लिए विधान बनाये वहीं कतिपय ऐसे धर्मशास्त्रकार एवं स्मृतिकार भी हुए, जिन्होंने विधवा के साम्पत्तिक स्वरूप का विरोध भी किया। उनमें प्रमुख मनु एवं उनके टीकाकार मेधातिथि (825-900 ई०), विश्वरूप (9वीं शती ई०), स्मृति संग्रहकार (810वीं [illegible] ई०)[2] तथा धारेश्वर भोज (1000-1050 ई०), इत्यादि हैं।

मेधातिथि[1] विधवा को पति की सम्पत्ति पर उत्तराधिकार के समर्थक थे। परन्तु मृत पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी का अधिकार मात्र भरण-पोषण के रूप में

---

1. मेधातिथि, (मनुस्मृति पर टीकां 9, 187)

   अतोयन्मेधातियिना पत्नी नामांश भागि वं निषिद्ध युक्तं तद्सम्बद्धम् पत्नी नामांशमणि वं वृहस्पत्यादि समनतम्। मेधातिथि निराकुर्वन न प्रीणाति सतां मनः।।

2. काणे द्वारा धर्मशास्त्र के इतिहास द्वारा मान्य तिथि।

दिया गया है। विश्वरूप[2] भी सभी विधवा को दायाद नहीं स्वीकार करते थे। अपितु वे भी पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए नियोग का समर्थन करते थे, और पुत्रवती एवं संभावित पुत्र वाली विधवाओं को ही दायाद स्वीकार करते थे। धारेश्वर भोज द्वारा भी विभक्त परिवार में रहने वाली निःसंतान विधवा को, जो नियोग की इच्छुक हो, को ही पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना गया है।

अतः इन धर्मशास्त्रकारों द्वारा पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी नियोग अपनाने वाली विधवाओं को ही माना गया था। उनके इन कथनों में उनके पूर्ववर्ती स्मृतिकारों के मतों की पुनरावृत्ति परिलक्षित होती है। एक तरफ तो ये स्मृतिकार नियोग एवं विधवा विवाह की निंदा करते हैं, दूसरी ओर सम्पत्ति के लिए नियोग की छूट देकर इसका समर्थन भी करते हैं। उपर्युक्त उल्लिखित स्मृतिकारों ने मृतक की सम्पत्ति नियोगण को सौंपकर, उसकी संरक्षिका विधवा को बनाने के पक्षधर थे। अतः यह कहा जा सकता है कि यह व्यवस्था विधवा के आर्थिक पराश्रय एवं पराधीनता की द्योतक है। इन टीकाकारों द्वारा विधवा को सम्पत्ति का अधिकारिणी न मानने के पीछे तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था भी उत्तरदायी थी, जिससे वे विधवा स्त्री के स्वतंत्रता के पक्षधर

1.

2. विश्वरूप याज्ञवल्क्य, 2, 140 अपुत्रस्य स्वार्यतस्यभातृगाम द्रव्यम्। तद्भावे पितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठ। विश्वरूप याज्ञवल्क्य स्मृति 2, 135-136 की टीका।

नहीं थे, अतएव उसे अलग से सम्पत्ति सौंपने की सम्भावना हो ही नहीं सकती थी।[1] इन स्मृतिकारों ने विधवा के ब्रह्मचर्य जीवन पर जोर दिया है और उसके खान-पान में भी सात्विकता का विधान किया है,[2] जिसके लिए उसे मात्र भरण-पोषण की ही आवश्यकता समझी गयी।[3]

उपर्युक्त विश्लेषण से ज्ञात होता है कि आलोच्य काल में विधवाओं के साम्पत्तिक स्वत्व के सन्दर्भ में विधि वेत्ताओं के दोनों वर्गों का अपना अलग-अलग सामाजिक दृष्टिकोण था। जहाँ एक ओर मनु की भाँति ही उनके टीकाकारों का प्रस्तुत संदर्भ में नकारात्मक रवैया था, वही दूसरी ओर विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व के सन्दर्भ में नियोग की अपेक्षा, सात्विकता पर तत्कालीन स्मृति एवं टीकाकारों द्वारा विशेष बल दिया गया, जिनमें याज्ञवल्क्य एवं उनके टीकाकार, विज्ञानेश्वर अपरार्क एवं वृहस्पति विष्णु, कात्यायन, शंख, देवल इत्यादि स्मृतिकार प्रमुख हैं। इन विचारकों के कथन के पीछे पूर्वमध्यकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थी। विचारकों के मतानुसार, साम्पत्तिक स्वत्व एवं सामान्य भरण-पोषण के अभाव में, कठिन सामाजिक यातनाओं के परिणामस्वरूप विधवायें व्याकुल होकर स्वयं समाजेत्तर शक्तिशाली एवं समृद्धिशाली विदेशी आक्रान्तों (हूण, अरब, तुर्क) के आश्रय में जाकर, समाज, देश एवं संस्कृति को प्रदूषित कर सकती थीं। सम्भवतः इन्हीं आशंकाओं के कारण स्मृतिकारों

1. मनुस्मृति 5/157 पर कुल्लूक भट्ट की टीका, जिसमें उन्होंने सम्पत्ति होने पर भी विधवा को मात्र फलफूल खाने का नियम बताते हैं।
2. मनुस्मृति 5/147-50 : विस्तृत विवरण प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अध्याय 2 में द्रष्टव्य है।
3. मनुस्मृति 9/95।

एवं उनके टीकाकारों द्वारा देश की राजनैतिक और आर्थिक उत्थान के लिए नियोग के अभाव में भी विधवा को साम्पत्तिक स्वत्व हस्तान्तरित करने का विधान किया गया है।

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि वैचारिक भिन्नता होते हुए भी, दोनों विचारकों द्वारा अपने-अपने विधानों से पूर्वमध्यकालीन सामाजिक अस्थिरता, रक्त मिश्रण एवं अश्लीलता को रोकने का प्रयास किया गया है। इन विचारकों का मुख्य उद्देश्य, विधवाओं की मजबूरियों का सामन्तों, आक्रान्ताओं एवं समृद्धशाली राजवंशों द्वारा लाभ उठानेसे रोकना था, ताकि राष्ट्र का विप्लव व सामाजिक मान्यताओं का ह्रास होनेसे बचायाजा सके। इन विचारकों के मार्ग यद्यपि पृथक-पृथक थे, किन्तु इनका लक्ष्य एक ही था। उनमें वैचारिकभिन्नता एवं विधि-विधानों में अन्तर उनके तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक व आर्थिक विभिन्नता के फलस्वरूप थे।

विधवाओं के साम्पत्तिक स्वत्व का विज्ञानेश्वर (1080-1100) एवं जीमूतवाहन (1090-1130 ई०) द्वारा समर्थन किये जाने से इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। इनके प्रयासों के परिणामस्वरूप विधवा को मृत पति की सम्पत्ति पर निर्विवाद रूप से उत्तराधिकारिणी स्वीकार कर लिया गया। विज्ञानेश्वर द्वारा विधवा को उत्तराधिकारिणी मानने के विरुद्ध, अपने से पूर्व दिये गये मतों का खण्डन करते हुए, सन्तान के अभाव में भी विधवा को उत्तराधिकारी मानने का समर्थन किया गया है। विज्ञानेश्वर ने निःसन्तान, विभक्त एवं असन्तुष्ट पुरुष के मरणोपरान्त उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी विधवा पत्नी को मानते थे।[1] विज्ञानेश्वर ने न केवल विधवा को दायाद स्वीकार किया

---

1. विज्ञानेश्वर- याज्ञवल्क्य, 2, 135-136 : तस्माद् पुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यांससृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलेव गृहणातीतिस्थितम्।।

बल्कि उन वचनों का भी खण्डन भी किया, जो विधवा को दायाद स्वीकार करने में बाधक थे। उनके अनुसार मात्र यज्ञ की अधिकारिणी न होने से विधवा को सम्पत्ति न मिले, यह उचित नहीं है क्योंकि धन की आवश्यकता यज्ञ के अतिरिक्त जीवन-यापन के लिए भी होती थी। विज्ञानेश्वर से पूर्व विधवा को उत्तराधिकारिणी बनाने वाले वचनों में यह विधान है कि यह अधिकार नियोग करने वाली विधवा को ही प्राप्त था, परन्तु विज्ञानेश्वर द्वारा इसे गौतम द्वारा दिया गया एकमात्र विकल्प स्वीकार करते हुए,[1] अन्यत्र भी विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया गया है।[2]

मनु द्वारा नियोग की निंदा किये जाने के कारण विधवा को मात्र रिक्थहर ही स्वीकार किया गया है और विधवा को पुत्र द्वारा ही सम्पत्ति पाने का अधिकारी माना गया है। विज्ञानेश्वर ने इन मतों का खण्डन करते हुए लिखा है कि यदि ऐसा माना जाय तो मनु द्वारा बताये गये छः प्रकार के धनों पर भी उसका अधिकार नहीं हो सकता। अतः स्त्री विधवा पुत्र के अतिरिक्त अन्य विधि सम्मत स्रोतों से भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकती थी। याज्ञवल्क्य ने विभक्त परिवार की विधवा को सम्पत्ति की अधिकारिणी माना था, परन्तु विज्ञानेश्वर के विवेचन के अनुसार यदि विभक्त सदस्य पुनः संयुक्त परिवार में आ जाये तो परिवार का जीवित पुरुष ही मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनेगा, उसकी विधवा पत्नी नहीं।[3]

---

1. मिताक्षरा की याज्ञवल्क्य स्मृति 2, 1.24 पर टीका
2. विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य 2, 126 पर टीका
3. याज्ञवल्क्य II 138 पर विज्ञानेश्वर की टीका
   संसृष्टिनस्तु संसृष्टी सोदरस्य तु सोदरः।।

इस सन्दर्भ में एक अन्य स्थल पर विज्ञानेश्वर द्वारा वृहस्पति के मत को उद्धृत करते हुए लिखा गया है, कि मृत व्यक्ति की विधवा के जीवित होने पर वही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होगी चाहे वह संयुक्त परिवार में हो याविभक्त परिवार में। विज्ञानेश्वर मृतक के दाह-संस्कार के पश्चात् ही विधवा को सम्पत्ति का अधिकारिणी मानते थे।[1] इसके अतिरिक्त टीकाकार विज्ञानेश्वर स्त्रीधन होते हुए भी विधवा को पुत्रों के समान ही सम्पत्ति की दायभाग की अधिकारिणी मानते थे।[2] अत: यहाँ यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि विज्ञानेश्वर विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के पक्षधर थे।

विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के सन्दर्भ में अपरार्क (1110-1130 ई०) सन्तानहीन विधवा को पति की सम्पत्ति का अंशहर उत्तराधिकारी माना था।[3] इस सम्बन्ध में अपरार्क की मान्यता थी कि विधवा को दिया जाने वाला धन, स्त्रीधन एवं उत्तराधिकार दोनों को मिलाकर दो या तीन हजार स्वर्ण पण से अधिक नहीं होना चाहिए।[4] समकालीन टीकाकारों में कुल्लूक भी (1150-1300 ई०) विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के पक्षमें अपना मत व्यक्त किया था। उन्होंने पत्नी को पति की अर्धांगिनी मानते हुए, उसे सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना था, एवं विधवा के रहते अन्य कोई भी सकुल्य सम्पत्ति का अधिकारी नहीं हो सकता था।[5] कुल्लूक बिना किसी बाध्यता के कहे थे कि पिता तथा सम्बन्धी मृतक की सम्पत्ति के तभी उत्तराधिकारी होंगे जबकि

---

1. विज्ञानेश्वर, वही, 2, 135-136
2. वही, 2, 115.
3. अपरार्क की याज्ञवल्क्य 2, 135-136 पर टीका
4. अपरार्क वही 2, 135-136 .
5. कुल्लूक की मनुस्मृति 9, 187 पर टीका

मृतक व्यक्ति के पुत्र, पत्नी एवं पुत्री न हो।[1] एक अन्य स्थल पर उनके द्वारा अपना मत व्यक्त करते हुए कहा गया है, कि जीवन-यापन हेतु सम्पत्ति व्यय की अधिकारी मात्र रखैल या पतिव्रतहीन पत्नी ही हो सकती थी। अन्य विधवाएं जीवन-यापन प्राप्त करने की मात्र अधिकारिणी ही नहीं है, अपितु सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना गया है।[2]

विधवाओं को सम्पत्ति के अधिकार के सन्दर्भ में पूर्वमध्यकालीन विचारक जीमूतवाहन (1100-1150 ई०) के विचार अन्य स्मृतिकारों की तुलना में अत्यन्त प्रगतिशील है। विधवा केसाम्पत्तिक अधिकार के पक्ष में इनका मत अधिक स्पष्ट है। जीमूतवाहन के अनुसार "जब कोई भी शास्त्र यह नहीं कहता है कि पत्नी विवाह के समय अपने पति की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त करती है वह पति की मृत्यु केसाथ ही स्वतः समाप्त हो जाता है।" तब यह मत कैसे स्वीकार्य हो सकता है, कि पत्नी का सम्पत्ति पर अधिक, परन्तु विधवा होते ही समाप्त हो जाता थी। न ही यह माना जा सकता था कि वह सम्पत्ति में सिर्फ उतने ही अंश का उपयोग कर सकती थी, जितना उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक थी। उन्होंने विष्णु के उस मत की विवेचना भी की, जिसमें सम्पत्ति के अधिकार में उन्होंने चल एवं अचल दोनों को सम्मिलित रूप

---

1. कुल्लूक मनुस्मृति, 9, 185

"अविद्यमानुमुख्यपुत्रस्य पत्नी दुहितृरहितस्य च पिताधनं गृहीयात्।"

2. कुललूक मनु 187 संवर्धनमात्र वचनं दुःशीला।

धार्मिक सविकार यौवनस्य पत्नी विषयम्।।"

से स्वीकार किया था। अतः जब विधवा के सन्दर्भ में इसका प्रयोग किया जाये तो उसमें मात्र (भरण-पोषण) एक अंश के रूप में संकीर्ण विधान जीमूतवाहन स्वीकार नहीं करते।[1]

जीमूतवाहन द्वारा विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों को पूर्ववर्ती स्मृतिकारों की अपेक्षा और विस्तृत करते हुए, उसे न केवल विभक्त परिवार में अपितु संयुक्त परिवार में भी पूर्ण उत्तराधिकारी माना गया है।[2] क्योंकि वह संयुक्त परिवार में रहे या विभक्त परिवार में पति की अर्धांगिनी होने के कारण किसी भी स्थिति में यह संबंध अविच्छेद्य था। जीमूतवाहन ने भी विधवा को सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार दिया था, उसके विनियोग का अधिकार नहीं प्रदान किया था।[3] उनके मतानुसार विधवा मितव्ययी एवं सात्विक जीवन यापन करते हुए मृत पति के लाभार्थ किये जाने वाले धार्मिक कार्यों में ही धन को व्यय कर सकती थी अन्यत्र नहीं[4]

---

1. जीमूतवाहन-दायभाग, भाग 11

   "परिणयनोत्पन्नं भर्तृधने पत्न्याः स्वामित्वं भर्तृमरणान्नशय तीत्यत्र च प्रमाणाभावात् सति पुत्रे तदधिकारशास्त्रादेव पत्नीवत्व नाशोऽवगम्यते...। न च वर्तनेपयुक्तधनमात्राधिकारार्थं पत्नीवचन मिति वाच्यम्। 'अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामि तदभावे दुहितृगामि तदभावे पितृगामि 'इत्यत्र सकृच्छ्रुतस्य धनपदस्य पत्न्यपेक्षम कृत्स्नपरत्वं च भ्रात्राघपेक्षमिति तात्पर्यभेदस्यान्याय्यत्वात्।।

2. दायभाग 11 'नहि संसृष्टत्वेऽपि यदेवेकस्य तदेवापरस्यामि किंतु अविज्ञातैकदेशं तद्द्वयोः न तु समग्रमेव।।

3. मजूमदार, आर० सी० हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द 1, पृ० 610

4. दायभाग 11.1.45–46-60 अन्यत्र नहीं।

स्मृतियों एवं उनकी टीकाओं के अतिरिक्त इस काल के कुछ पुराणों से भी विधवाओं के साम्पत्तिक सवत्व पर प्रकाश पड़ता है। अग्निपुराण (600-900 ई०) में विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता हैं। इस पुराण में अप्राप्य स्त्रीधन वाली पत्नी को जीवित पिता द्वारा पुत्रों के बराबर अंश देने का प्रसंग वर्णित है,[1] जिस पर पिता की मृत्यु के पश्चात् भी विधवा का अधिकार होता हैं। यदि यह विभाजन पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रों द्वारा होता था, तो उसमें भी विधवा का बराबर का अंश होता था।[2] इसके अतिरिक्त निःसंतान व्यक्ति की मृत्युके उपरान्त उसकी विधवा पत्नी, पुत्री, माता-पिता, भाई, भातृपुत्र सगोत्र, बन्धु, शिष्य और ब्रह्मचारी इत्यादि दायाद होते थे।[3]

अग्निपुराण में इसी प्रसंग में एक अन्य स्थल पर वर्णित है, कि ऐसी विधवा संरक्षिका होती है जिसके अल्पवयस्क संतान हो, या फिर जो अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ हो, तो राजा को उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा का उत्तरदायित्व उठाना चाहिए।[4]

---

1. अग्निपुराण 256/2 यदि दधात् समामंशान् कार्याः पत्न्याः [illegible]: न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्ता वा श्वसुरेण वा।।
2. वही 256/2 पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तद् तस्यैव धनं भवेत्।
   पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्।।
3. वही 256/21-23 मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्ध [illegible] अभ्रातृको हरेत सर्वं दुहितृणां सुतादृते। पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुतो गोत्रजो बन्धुः शिष्यः सब्रह्मचारियः।। एषमभावे पूर्वस्य धमभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य [illegible]:।।
4. अग्निपुराण 223/17-21, अनृतन्तु बदन दण्ड्यः सुक्तियांशमष्टमम्। प्रनष्ट स्वामिकं रिक्थं राजा त्रयव्यं निधापयेत्।। अर्वाक् ऋ० दद्धरेत् स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्। ममेदमिति यो ब्रूयात् सोर्थयुक्तो यथाविधि। सम्पाद्य रूपसंख्यादीन स्वामी तद् द्रव्यमर्हति। बालदायादिकं रिक्थं तादहा जानुपालयेत्। यावत् स्यात् स सभावृत्तो यावद्वातीत शैशवः। बालपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च। पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरेषु च। जीवन्तीनान्तु तासां ये संहरेयुः स्वबान्धवाः।। तांछिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथ्वीपतिः। सामान्यतोहृतंचौरैस्तुद्वैदधात् स्वयं नृपः।।

यद्यपि राजपूत काल में भी निःसंतान विधवा की सम्पत्ति का राजा द्वारा अधिग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। किन्तु कई जनजातियों यथा भील, बंजारा, नट, मीणा इत्यादि में स्त्रियाँ स्वावलम्बी थी और वहाँ पर संपत्ति अधिकार एवं सती प्रथा इत्यादि की मान्यताएं भी प्रचलित नहीं थी।[1] इसके अतिरिक्त राजपूत काल में उच्च वर्गीय समाज में सती प्रथा का प्रचलन विवेच्य काल तक अधिक था; जिसके परिणामस्वरूप विधवा के सम्पत्ति पर आधिपत्य की सम्भावना क्षीण प्रतीत होती है।

उपर्युक्त विवेचनों के आलोक में यह ज्ञात होता है कि 10वीं से 12वीं सदी तक सम्पूर्ण उत्तर भारत में पुत्रहीन व्यक्ति की विधवा स्त्री को पति के चल एवं अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति पर दायाधिकार प्राप्त हो चुका था।[2]

अतः इन तथ्यों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि 12वीं शती ई० तक विधवाओं को पति की सम्पत्ति में अधिकार तो मिल गया था, किन्तु उन पर भी उन्हें पूर्ण आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं दी गयी थी, उन पर पति, या पिता के परिवार के पुरुष

---

1. पराशर, चिरंजीलाल नारी और समाज पृ० 193
2. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 3, पृ० 701-12; मजूमदार, आर० सी० द स्ट्रगल फार इम्पायर, पृ० 483-496

सदस्यों का नियन्त्रण बना रहता था। विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के सन्दर्भ में इसी से सम्बन्धित कुछ अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी विचारणीय हैं कि विधवा को सम्पत्ति में कितना अधिकार था और यह अधिकार किस तरह का था? और किसे प्राप्त था?

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों के सन्दर्भ में विधि विचारकों द्वारा केवल उन्हीं विधवाओं को सम्पत्ति पर अधिकार दिया है, जो उत्तराधिकार के समय तक पवित्र हो और सही अर्थों में मृतक की पत्नी हो।

पाणिनी के अनुसार पति के साथ जिसका धार्मिक परिणय हुआ हो, वह पत्नी कहलाती थी।[1] विज्ञानेश्वर[2] ने पाणिनी के वर्णन के आधार पर विवाहिता स्त्री को ही पत्नी माना। टीकाकार विश्वरूप के अनुसार पत्नी से तात्पर्य गर्भवती विधवा से थी, जिससे पुत्र प्राप्ति की आशा होती थी, पुत्र के न होने से पुत्री उत्तराधिकारी बनती थी।[3] कात्यायन के अनुसार साध्वी विधवा को ही पत्नी समझना चाहिए और उसे ही मृतक का साम्पत्तिक अधिकार मिलना चाहिए, किन्तु व्यभिचारी होने पर यह अधिकार पुत्री

---

1. पाणिनी अष्टाध्यायी 4, 9, 33
2. विज्ञानेश्वर ने अष्टाध्यायी में वर्णित पत्नुर्नोयज्ञसंयोगे के आधार पर विवाहिता को पत्नी मानकर सम्पूर्ण वर्णों की विधवाओं को रिक्थाधिकार का अनुमोदन किया है। डी० पी० तिवारी, पृ० 150
3. विश्वरूप द्वारा याज्ञवल्क्य स्मृति 2/135 पर टीका।

को प्राप्त होना चाहिए।[1] वृद्धमनु का उक्त सन्दर्भ में विचार है कि केवल पुत्रवती विधवा, जो सात्विक जीवन व्यतीत करते हुए, व्रतों का पालन करती हुई पति की शय्या को शुद्ध रखती थी, को पत्नी समझना चाहिए एवं उसे ही सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी मानना चाहिए।[2] कुल्लूक का इस सन्दर्भ में मत है कि पतिव्रता पूर्वक जीवन यापन करने वाली विधवा ही पति की सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी।[3] स्मृति चन्द्रिका में एकस्थल पर वर्णित है कि धन देकर प्राप्त की गयी नारी केवल संभोग के लिए होती थी, उसकी स्थिति दासी के समान थी अतः पत्नी के रूप में उसे मृतक पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं माना जा सकता था।[4]

विधवा को स्वत्व के सन्दर्भ में दुविधा तब उत्पन्न होती है जब किसी मृतक की कई पत्नियाँ होती थीं, ऐसे में सम्पत्ति का अधिकार किस पत्नी को मिलना चाहिए? ऐसी स्थिति में शंख ने निःसंतान-मृतक की बड़ी विधवा को मृतक की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी माना।[5] विज्ञानेश्वर ने यहाँ ज्येष्ठा पत्नी से तात्पर्य गुणों में श्रेष्ठ पत्नी से माना, जो सात्विक जीवन व्यतीत करती हुई, पति के प्रतिष्ठा की रक्षा करे। उक्त

---

1. कात्यायन स्मृति 'मिताक्षरा 2-135-36 की व्याख्या में उद्धृत
   'पत्नी पत्युधर्नहारी या स्याद् व्यभिचारिणी।
   तद्भावे तु दुहिता यधनूदा भवेत्वा।।
2. वही, वृद्ध मनु-अपुत्रां शयनं भर्तुः पालपन्ती व्रते स्थिता।।
3. कल्लूक, मनुस्मृति 9, 186 पर टीका-तदुत्तं स्त्रीणां तु जीवन वधात्......पत्नी विषयम्।
4. स्मृति चन्द्रिका, 2, 290
   'क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्नी विधीयते। न सा दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः।
5. स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य भ्रातृगामि द्रव्यं। तदभावे पितरौ हरेयातां ज्येष्ठा वा पत्नी।। याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका में 2/136 में विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत; विभाग सागर, 16/2-41 पर उद्धृत पैठीनसि 'अपुत्रस्य स्वार्यातस्य... ... .. लभेयाताम् पत्नी वा ज्येष्ठा।।

प्रसंग में विज्ञानेश्वर का कथन है कि यदि मृत व्यक्ति की कई विधवाएं हो तो, पति की मृत्यु के पश्चात् उन्हें सम्पत्ति का बराबर-बराबर अंश मिलेगा[1] यदि इनमें से किसी एक विधवा की पुनः मृत्यु हो जाये तो वे इस सम्पत्ति का पुनः विभाजन करके बराबर-बराबर हिस्सों की अधिकारिणी होंगी।[2] विज्ञानेश्वर के उक्त कथनों का स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारमयूख एवं सुबोधिनी टीका इत्यादि से भी समर्थन मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन में अनेक विधि के सोपानों को प्राप्त करते हुए यद्यपि विधवा को निर्विवाद रूप से पति के सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हो गया, इन्तु यह स्वत्व कितना था, उसका वह विनियोग कर सकती थी, कि नहीं यह एक महत्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न उभर कर सामने आता है। अथक प्रयासों के फलस्वरूप गुप्तोत्तर काल के पश्चात् अर्थात् पूर्वमध्यकाल में यद्यपि विधवा को पति की सम्पत्ति में अधिकार तो मिला, किन्तु वह अधिकार उसके उपयोग या जीवनपर्यन्त भरण-पोषण का था वह इसका अपनी इच्छानुसार क्रय-विक्रय या दानादि नहीं कर सकती थी। इस सन्दर्भ में धर्मशास्त्रकारों एवं विचारकों में मतैक्य नहीं है। कौटिल्य[3] द्वारा भी स्त्री को दिये गये धन को आपत्तिकाल में काम आने वाला जानकर गुरु के निरीक्षण में उपयोग करने को कहा गया है किन्तु इसके विक्रय के सन्दर्भ में स्पष्टतः कुछ उल्लेख नहीं किया गया है। कात्यायन[4] (400-600 ई०) द्वारा भी सदाचारिणी विधवा को मृत पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार देते हुए, धार्मिक कार्यों में दान का अधिकार दिया गया है, किन्तु

---

1 याज्ञवल्क्य स्मृति, 2/135 पर मिताक्षरा की टीका-

'ताश्च ब्रह्वयश्चेत्स जातीया विजातीयाश्च तदा यथांशं विभज्य गृह्णन्ति।।"

2. काणे, पी० वी० धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ० 910

3. अर्थशास्त्र, 3/2

4. कात्यायन स्मृति-सारोद्धार श्लोक 921 से 926

उसके क्रय-विक्रय अथवा गिरवी रखने का अधिकार विधवा को नहीं दिया गया। यदि विधवा सम्पत्ति का किसी कारणवश विक्रय करना चाहती है तो इसके लिए निकटतम पुरुष सहयोगियों की अनुमति होना आवश्यक था।

जीमूतवाहन ने कात्यायन के मत का समर्थन करते हुए, निःसंतान, सात्विक जीवन व्यतीत करने वाली विधवा को उसकी सम्पत्ति की स्वामिनी अवश्य माना था, किन्तु वह इस धन को स्त्रीधन की भाँति स्वेच्छया क्रय-विक्रय नहीं कर सकती थी। महाभारत में एक स्थल पर वर्णित श्लोक को विवेचित करते हुए कहा गया है कि विधवा पति की सम्पत्ति का, सात्विक जीवन-यापन हेतु उपयोग कर सकती थी, किन्तु अपने सौन्दर्यीकरण के लिए नहीं अर्थात् पति के पुण्याभिवृद्धि के लिए धार्मिक कृत्यों में उपयोग कर सकती थी, किन्तु स्वार्थ के लिए धन को नष्ट नहीं कर सकती थी। फलतः पति के दाह संस्कार एवं उसके लाभार्थ किये गये श्राद्ध इत्यादि के लिए विधवा को दान देने का भी अधिकार दिया गया था, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में जीवन-यापन के सन्दर्भ में अत्यावश्यक परिस्थितियों में वह सम्पत्ति को गिरवी रख सकती थी एवं उसे बेचने का भी अधिकार दिया गया था।[1]

---

1. दायभाग 10 पृ० 478

पत्नी च भर्तृधनं भुँजीतैव परं न तु तस्य दानाधमन विक्रयान्कर्त्तुर्हमति। तदाह 'कात्यायनः अपुत्रा-' गुरौ श्वसुरादौ भृर्तगृहे स्थिता यावज्जीवं भर्तृधनं भुञ्जीत, न तु स्त्रीधनवत् स्वच्छन्दं दानाध मनविक्रयानपि कुर्वीत्। स्त्रीणां स्वपतिदायम्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिदायात्कथंचन।। उपभोगोऽपि न सूक्ष्म वस्त्रपरिधानादिना किन्तु स्वरशरीरधारणेन पत्युरूपकारकत्वात् देहधारणोचितोपभोगाम्युनुज्ञानम्। एवं च भर्तुरौर्ध्वदैहिक क्रियाधर्म दानादिकमप्यनुमतम्। अतएव वर्त्तनाशक्तौ आधानमप्यनुमतं तत्राप्यशक्तौ विक्रयणमपि।

विज्ञानेश्वर भी उक्त सन्दर्भ में उसे सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार मानते थे। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विधवा को पति की सम्पत्ति पर यद्यपि पूर्ण स्वामित्व प्राप्त था, किन्तु प्रारम्भ में उसे मात्र उपभोग का अधिकार दिया गया, किन्तु 11-12वीं शती तक उसे विशेष परिस्थितियों में गिरवी रखने दान देने व बेचने का भी अधिकार प्रदान कर दिया गया।

विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व के सन्दर्भ में हमें धर्मशास्त्रों एवं स्मृतिकारों के अतिरिक्त साहित्यिक स्रोतों से भी जानकारी प्राप्त होती है। साहित्यिक साक्ष्यों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि, 1200 ई० तक दायादों के अभाव में विधवा की सम्पत्ति राजकोष में चली जाती थी और उसे भरण-पोषण मात्र मिलता था। कालिदासकृत अभिज्ञानशाकुन्तलम् में एक स्थल पर दायादों के अभाव में निःसंतान मृत पुरुष की सम्पत्ति को राजकोष में मिलाने का उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थ में एक उद्धरण से इस बात की पुष्टि होती है जिसमें यह उल्लिखित किया गया है कि एक व्यापारी धनमित्र की मृत्यु के उपरान्त राजा दुष्यन्त के मन्त्री द्वारा उसकी सम्पत्ति को राजकोष में मिलाने का प्रयत्न किया गया था।[1] उक्त प्रसंग में दिलीप वर्णन यशपाल कृत मोहराज पराजय नामक नाटक में मिलता है, जिसके अनुसार राजा यह इच्छा रखते थे कि धनी व्यक्ति निःसंतान मरे ताकि उसकी सम्पत्ति राजकोष में मिलायी जा सके।[2]

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-षष्ठ अंक 'समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौकाव्यसने विपन्नः अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजागामी तस्यार्थ संचय इत्येतदमात्येन लिखितम्।।''
2. मोहराजपराजय, अंकतीसरा - ''निष्पुत्रं म्रियमाणमाद्‌यमवनीपालो हट्टा वाञ्छति।।
नोट - यद्यपि यह ग्रन्थ 13वीं शती की रचना है, किन्तु विषय वस्तु गुजरात नरेश कुमारपाल की वृत्तियों से सम्बन्धित है, जिसका विवेचन अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस नाटक में एक अन्य स्थल पर उद्धृत है कि सन्तान व्यापारी कुथरेस्वामी की मृत्यु के पश्चात्, दो वणिकों द्वारा राजा कुमारपाल से यह प्रार्थना की जाती है कि वो उसकी सम्पत्ति के राजकोष में मिलाकर उसके अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध करे।[1] इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः निःसंतान एवं असक्षम व्यक्तियों के अन्तिम संस्कार का उत्तरदायित्व राजा पर होता था। इसीलिए उसे पुत्रवत् मानकर मृतक की सम्पत्ति हस्तान्तरित करने का अधिकार था।[2] किन्तु इस प्रसंग में राजा को उदार बताते हुए उसकी प्रशंसा की गयी है।

कुमारपाल प्रबोध नामक नाटक में गुजरात के राजा कुमारपाल की प्रशंसा करते हुए नाटककार लिखा है कि सतयुग में उत्पन्न हुए रघु, नहुष, नाभाग, भरत आदि पूर्ववर्ती राजाओं ने विधवा की सम्पत्ति को हड़प लिया था, किन्तु इस राजा ने रोती हुई विधवाओं के धन को छोड़कर महापुरुषों के समान महाने बने।'[3] इस प्रकार यह ज्ञात

---

1. मोहपराजयम् अंक 3 पृ० 52 देव कुबेरस्वामी निष्पुत्रं म्रियमाण इति।
2. कुमारपाल चरित संग्रह पृ० 96 अंक (कुमारपाल प्रबोध प्रबंध) अपुत्राणां धनं गृहणन् पुत्रो भवति पार्थिवः त्वं तु संतोषतो मुंचन् सत्यं राजपितामहः।
3. कुमार पाल चरित संग्रह में प्रकाशित कुमारपाल प्रबोध प्रबंध पृ० 96
   'न मुक्तं यत्पूर्व रघुनहुषनाभागभरतप्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगोत्पत्तिभिरपि। विमुञ्चन्सन्तोषात्तदिह रूदतीवित्तमधना कुमारक्षमापाल त्वमसि महतां मस्तकमणिः।। यशपाल, मोहराजपराजयम्, अंक 3 पृ० 52 श्लोक 19, पृ० 53 श्लोक 21; कर्तुं तत्क्षणमौर्ध्वदेहिकमहो। पापं भयाद्भूभुजां निष्पुत्रस्य मृतस्य बान्धवजनः स्निग्धोऽपि नासीदति। क्रन्दन किञ्च कदर्थ्यते गृहजनोऽन्विष्यद्भिरन्तर्धनं। धिक्कष्टं यमकिंकरौखि नृपव्यापारिभिर्निष्कृपैः।।

होता है कि 11-12वीं शती तक कुमारपाल ने इस कुप्रथा को समाप्त करके स्त्रियों को जीवनपर्यन्त साम्पत्तिक स्वरूप प्रदान कर दिया था। समकालीन ग्रन्थ कथासरित्सागर में भी चरित्रवती विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का पूर्ण उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया है।[1] इसी प्रसंग पर 11-12वीं शती ई० में भारत आये विदेशी इतिहासकार अल्बेरूनी[2] के विवरण से भी प्रकाश पड़ता है। जिसके अनुसार, तत्कालीन समाज में विधवा स्त्री के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व परिवार के सदस्यों पर था। नि:संतान मृतक की सम्पत्ति को राज्य द्वारा अपहृत कर लिया जाता था और विधवा को भरण-पोषण मात्र दिया जाता था। इसी प्रसंग में उनके द्वारा लिखा गया है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणी विधवाओं के साथ उदारता बरती जाती थी एवं उन्हें साम्पत्तिक स्वत्व भी प्रदान किया जाता था। इस प्रकार अल्बरूनी के विवरण से उत्तर भारत की विधवाओं के साम्पत्तिक स्वत्व पर महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

उपर्युक्त तथ्यों एवं साक्ष्यों के विवेचनात्मक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य में यह प्रतीत होता है कि अनवरत प्रयासों एवं वर्षों के संघर्ष के पश्चात् विधवा को सम्पत्ति पर स्वत्व मिला, किन्तु यह अनेक विधि विधानों के साथ जुड़कर ही मिला। आलोच्यकाल में विधवा को मृतक पति की पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त हुआ, किन्तु यहाँ पर एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य स्वत: ही आता है कि जिन विधवाओं के पास पैतृक सम्पत्ति नहीं थी, वो अपने जीवन यापन के लिए किस पर निर्भर थी। इन प्रयत्नों को भी

---

1. कथासरित्सागर 7/76
2. सचाऊ द्वारा सम्पादित-अल्बरूनीज इण्डिया अध्याय 72 पृ० 164-65

विधिकारों ने अपने विधानों द्वारा विवेचित किया था। कौटिल्य[1] के अनुसार सम्पत्ति विहीन विधवा के देखभाल का उत्तरदायित्व परिवार के अन्य पुरुष सम्बन्धियों पर होता था, यदि वह विधवाओं का भरण-पोषण नहीं करता था, तो राजा को उसे दण्डित करने का अधिकार था। इसके अतिरिक्त कौटिल्य द्वारा विधवा द्वारा स्वयं कताई-बुनाई इत्यादि कार्य करके धनोपार्जन करने का भी उल्लेख किया, जिसमें समाज द्वारा उसे पूर्ण सहयोग करने को कहा गया है।[2] एस० मुखर्जी द्वारा अपने ग्रन्थ में विधवाओं द्वारा ऊन, रेशमी वस्त्र एवं वल्कल इत्यादि वस्त्र के निर्माणार्थ सूत काटकर धनोपार्जन की भी व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त कभी-कभी विधवाएं गृह परिचायिका एवं दासियों का भी कार्य करती थी। कथा सरित्सागर नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर उद्धृत है कि राजा निःसंतान विधवाओं के प्रति सहानुभूति रखता था एवं उनसे दासी का कार्य लेता था।[4]

विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों के अन्तर्गत उसके पति की सम्पत्ति के अतिरिक्त उसके स्त्रीधन का भी वर्णन किया जा सकता है। स्त्रीधन का शाब्दिक अर्थ है–"स्त्री की सम्पत्ति"। मनु छः प्रकार के स्त्री धन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि विवाह

---

1. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2, 23
2. वही II, 23
3. जातक 1, पृ० 291, 4 पृ० 79, एस० मुखर्जी इकोनामिक एमीनीसियेशन आफ विमिन पृ० 130
4. कथा सरित्सागर, भाग 6, पृ० 119

के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया गया, विदाई के समय जो कुछ दिया गया, स्नेहवश दिया गया, जो कुछ माता-पिता या भ्राता द्वारा प्राप्त हुआ ये स्त्रीधन हैं।[1] इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए व्यास लिखते हैं कि "यह वह धन है जो किसी स्त्री को इसलिए दिया जाता है कि वह प्रसन्नतापूर्वक अपने पति के घर जाने को प्रेरित हो सके।"[2] स्त्रीधन के विषय में मेधा तिथि[3] के अनुसार, "स्त्रीधन के अन्तर्गत मृत पुरुष की विधवा की हैसियत से उत्तराधिकार में प्राप्त धन या माता या पत्नी की हैसियत से प्राप्त धन हो, विभाजन से प्राप्त होने वाला माता का हिस्सा आता है।"

कात्यायन के अनुसार जो धन स्त्री स्नेहवश या शिल्पादि, किसी अन्य से प्राप्त होता था, उस पर पति का स्वामित्व होता था और शेष प्राप्त अन्य धन स्त्रीधन [illegible] था।[4] इसके अतिरिक्त स्त्रीधन को और स्पष्ट करते हुए जीमूतवाहन द्वारा लिखा गया है कि स्त्रीधन को दान रूप में देने, विक्रय करने तथा बिना पति के [illegible] के स्वतन्त्र रूप से उपभोग करने पर स्त्री का पूर्ण अधिकार था। दायभाग में पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति (भूमि, भवन, नदी, पहाड़ खान) को छोड़कर सम्बन्धियों द्वारा विवाह एवं

---

1. काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ० 938
2. दायभाग, 4/3/20-21 पृ० 93

   गृहादिकर्भिभिः शिल्पभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्रादिप्रेरणार्थ स्त्रियै मयदुत्कोचनं तच्छुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थत्वात। व्यासोक्तं वा यथा।। यदा नेतु भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्तितम्। भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दतं तच्च ब्राह्मादिण्वविशिष्टम्।।
3. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ० 941
4. काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ० 940

विदाई के अवसर पर प्रदत्त भेंट को स्त्रीधन माना गया है।"[1]

अतः उपर्युक्त विवेचनों से ज्ञात होता है कि स्त्री द्वारा [illegible] [illegible] सम्बन्धियों द्वारा विवाह केसमय जो भेंट भूमि, भवन, रुपया, आभूषण, पात्र, पशु-पक्षी एवं अन्न के रूप में प्राप्त होता था वही स्त्रीधन था, इस पर स्त्री का पूर्व अधिकार था। स्त्रीधन को स्वत्व की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। (A) सौदायिक (B) असौदायिक।[2]

विवाह के समय या उसके उपरान्त स्त्री को [illegible]-[illegible] या पति से जो कुछ प्राप्त होता था, इस पर पत्नी का पूर्ण अधिकार होता था। कात्यायन के अनुसार यह धन स्त्री को इसलिए दिया जाता था, कि वो दुर्दशा को प्राप्त न हो। इस धन पर विधवा का सम्पूर्ण स्वामित्व होता था। वह पति द्वारा प्रदत्त चल सम्पत्ति को छोड़कर अन्य सम्पत्ति का मनोकूल व्यय कर सकती थी, वह इस धन की जीवन पर्यन्त उपभोग लेन-देन स्वयं पर या कुल के लिए कर सकती थी, इसको किसी भी सम्बन्धी द्वारा नियन्त्रण एवं नष्ट नहीं किया जा सकता था।[3]

असौदायिक सम्पत्ति, पर स्त्री का स्वामित्व मात्र उसके पति द्वारा नियन्त्रित रहता था, किन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् असौदायिक धन को भी विधवा स्वेच्छया से व्यय,

---

1. वही, पृ० 941 ।
2. वेदालंकार- हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० 486 ।
3. काणे- वही भाग 2, पृ० 942 ।

दान कर सकती थी। नारद[1] के अनुसार विधवा स्त्री पति द्वारा प्रदत्त अचल सम्पत्ति का उपभोग कर सकती थी, एवं चल सम्पत्ति पर उसे पूर्ण स्वत्व प्राप्त था वह उसका दान, विक्रय भी कर सकती थी। कात्यायन[2] के अनुसार स्त्रीधन का विधवा पूर्ण उपभोग कर सकती थी, उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दायाद इसका उपभोग करते थे। एक अन्य स्थल पर वे लिखे हुये है कि असाध्वी विधवा का स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं था।

अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने स्त्रीधन को आपद्कालिक धन माना है, जिसको साध्वी विधवा प्राप्त करती थी।[4] पुत्रहीन विधवा पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई गुरु के संरक्षण में जीवन पर्यन्त स्त्रीधन का उपभोग कर सकती थी।[5] यदि कोई विधवा स्त्री

---

1 नारदीय मनुस्मृति, 2.24, (स्मृति सन्दर्भ भाग, 1 पृ० 260)

भर्त्राप्रीतेन यददत्तं स्त्रियै तस्मिन्नमृतेऽपि तत्। सा यथाकामम श्नीयात् दद्याद्वा स्थावरादृते। स्मृति चन्द्रिका पृ० 58, दायभाग पृ० 77 के अनुसार विधवा सौदायिक धन एवं अचल सम्पत्ति को विक्रय नहीं कर सकती थी।

2 कात्यायन स्मृति – सादोद्धार श्लोक 907. 921. 923 भर्तृदायं मृते पत्यौ विन्यसेत्स्त्री यथेष्टतः। विद्यमाने तु संरक्षेत क्षपयेत्तत्कुलेऽन्यथा।।

3. वही श्लोक 929, 'अपचार क्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका।
व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं सा न चार्हति।

4. अर्थशास्त्र- 312, पृ० 322, 'मृते भर्तरि धर्मकामा तदानीमेवास्थाप्याभरणं शुल्कशेषं च लभेत।

5. वही 3.2 अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरु समीपे स्त्रीधनं
आ आयुःक्षयाद् भुंजीत्। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्।।

पुनर्विवाह करती थी तो उसे स्त्रीधन के स्वत्व को पुत्र को देना पड़ता था।[1]
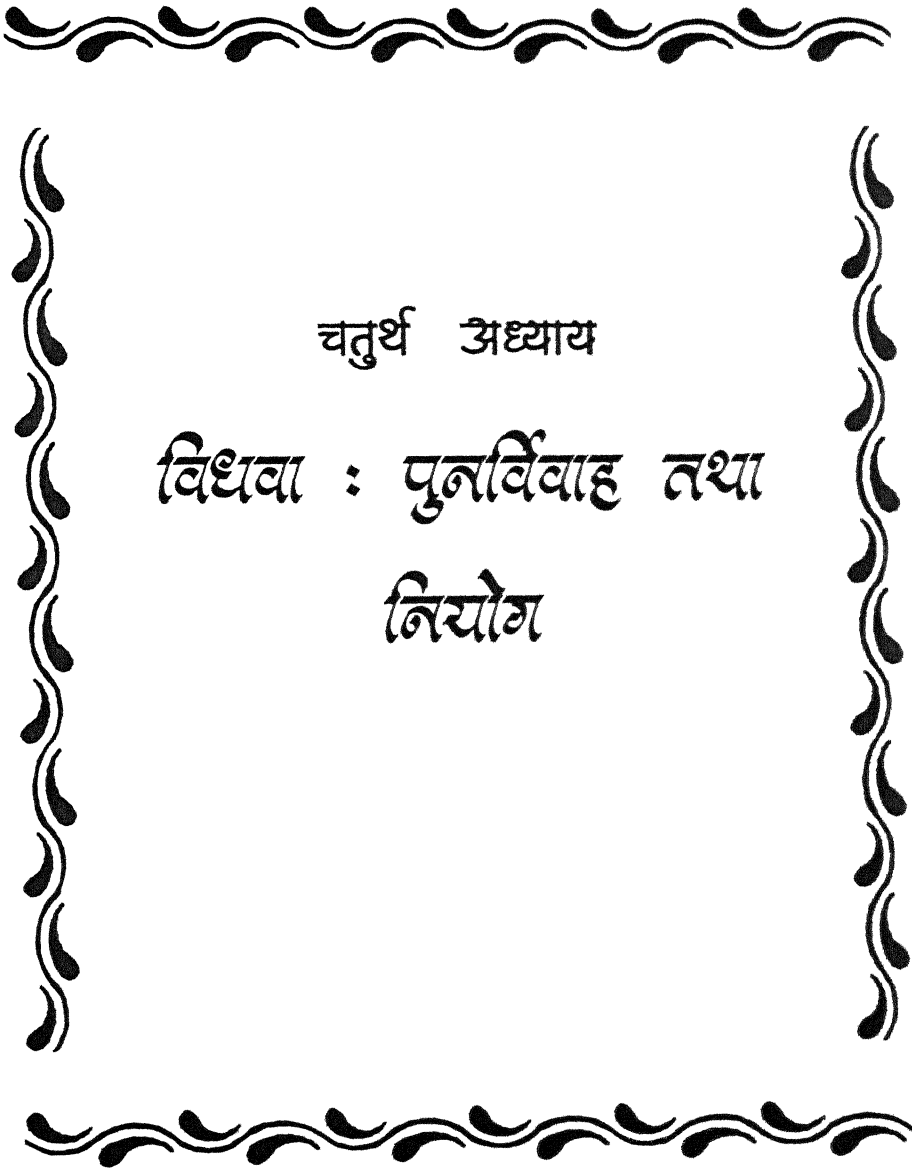
उपर्युक्त विवेचनों से ज्ञात होता है कि स्त्रीधन पर विधवा का, सधवा स्त्री की अपेक्षा अधिक अधिकार था। वह इसका बिना किसी नियंत्रण के अपनी इच्छानुसार क्रय-विक्रय, दान एवं गिरवी रख सकती थी एवं इस धन को अन्य सम्बन्धी भी बांट नहीं सकते थे। दायभाग में एक स्थल पर उद्धृत किया गया है कि पति के [illegible] में जो कुछ भी धन स्त्री या उसके पति को प्राप्त होता था, पति के मृत्योपरान्त विधवा ही उसकी एकमात्र स्वामिनी थी, उसकी मृत्यु के पश्चात् विधवा के पुत्र इस धन के उत्तराधिकारी होते थे।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित मतों के विवेचन से ज्ञात होता है कि विधवा स्त्री को प्राचीन काल में नियोग एवं पुनर्विवाह के प्रचलित समाज में साम्पत्तिक स्वत्व की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, किन्तु कालान्तर में बदलते हुए सामाजिक एवं राजनीतिक संकीर्णता के चलते वियोग एवं पुनर्विवाह को निन्दनीय मानते हुए कलिवर्ज्य शीर्षक के अन्तर्गत माना गया। इसलिए विधवा को ब्रह्मचर्य जीवन-यापन हेतु धन की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऐसी परिस्थिति में विधवा के स्वत्व के सम्बन्ध में नये सिरे से विचार की आवश्यकता महसूस की गयी। उन्हें वैधव्य जीवन-यापन व भरण-पोषण के लिए आर्थिक आत्मनिर्भर बनाना अत्यन्त आवश्यक समझा गया; जिसके परिणामस्वरूप

---

1. अर्थशास्त्र 3/2 पृ० 323 पुत्रवती विन्दमाना जीयेत्। तन्तु स्त्रीधनं पुत्रा हरेयुः पुत्र भरणार्थं वा विन्दमाना पुत्रार्थं स्फातीकुर्यात्।
2. जीमूतवाहन- दायभाग पृ० 75- यद्दत्तं दुहितुः पत्ये स्त्रियमेव तदन्वियात्। मृते जीवति वा पत्यौ तदपत्यंमृते स्त्रियाः।।

तत्कालीन विधिकारों ने उन्हें मृत पति की सम्पत्ति में उत्तराधिकारी घोषित किया। ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई० में इस सन्दर्भ में और प्रगति हुई और उन्हें पति की सम्पत्ति की एकमात्र स्वामित्व स्वीकार किया गया। इस तरह से वैधव्य के यातनापूर्ण जीवन-यापन में विधवा को आर्थिक स्वत्व देकर उनको आत्मनिर्भर बनाने का सफल प्रयास किया गया।

❑

चतुर्थ अध्याय

विधवा : पुनर्विवाह तथा नियोग

चतुर्थ अध्याय

विधवा :पुनर्विवाह तथा नियोग

वैधव्य भारतीय समाज का एक अत्यन्त ही कठोर पहलू है। प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान समय तक विधवाओं की समस्यायें, उनके जीवन से जुड़ी हुई हैं। जिसका प्रभाव उनके सम्पूर्ण जीवन पर परिलक्षित होता रहा है। विधवा होने से तात्पर्य रूढ़िवादी परम्पराओं एवं अंधविश्वास पूर्ण जीवन व्यतीत करने से था। प्राचीन कालीन पुरुष प्रधान समाज में एक विधवा नारी के समस्त सामाजिक मूल्यों, मान्यताओं, संस्कारों एवं सामाजिक सहभागिता पर अनेक प्रतिबन्ध आरोपित थे। विधवा के जीवन-निर्वाह, उसकी पारिवारिक स्थिति, विशेषतः सामाजिक स्थिति के क्रमिक विश्लेषण के आलोच्ययुगीन विधवा पुनर्विवाह के विषय में यथेष्ट जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

विवाह शब्द की व्युत्पत्ति वि + वह् + घञ् प्रत्यय से हुयी है, जिससे तात्पर्य वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप से अथवा पत्नी बनाकर ले जाने से है।[1] और पुनर् + वि + वह् + घञ् अर्थात् पुनर्विवाह से तात्पर्य एकबार फिर ले जाने से है,[2] यहाँ पर पुनर्विवाह से तात्पर्य किसी विवाहित स्त्री का वैधव्य के पश्चात् अन्य पुरुष द्वारा फिर से पत्नी बनाने से है। इस सन्दर्भ में पुनर्विवाह से तात्पर्य, उसी स्त्री से है, जिसका विवाह हो चुका है, चाहे वह क्षतयोनि हो या अक्षत योनि।[3]

---

1. मिश्र, जयशंकर – प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ. 250; आप्टे – संस्कृत हिन्दी-कोश पृ०-910
2. आप्टे – वही पृष्ठ-621
3. तिवारी डी. पी., प्राचीन भारत में विधवाएं पृष्ठ 103

धर्मशास्त्रों में पुनर्विवाहिता विधवा के लिए पुनर्भूः शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे तात्पर्य पुनः संस्कृता से है।[1] पुनः संस्कृता से तात्पर्य जिसका फिर से संस्कार हो, उस स्त्री से है। इस प्रसंग से संस्कार शब्द विवाह के रूप में द्रष्टव्य है। धर्मशास्त्रों में पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को पुनर्धू, पुनरूपोढा, पुनर्भार्या एवं दिधिषूः और इनमें उत्पन्न पुत्र को पौनर्भव कह कर उल्लिखित किया गया है।[2]

विधवा के पुनर्विवाह का प्रश्न बहुत ही विवादास्पद है। यद्यपि [illegible] में विधवा का पुनःसंस्कार धर्म के अनुकूल समझा जाता था एवं उसका [illegible] भी होता था, तथापि कुछ वर्ग विशेष द्वारा कालान्तर में इसे धर्म विरुद्ध मान कर, हिन्दू समाज में इसका दुष्प्रचार भी किया गया। आलोच्यकाल में भी विधवा का पुनर्विवाह यद्यपि होता था, किन्तु वह अच्छा नहीं माना जाता था।

प्राचीनकालीन धर्मशास्त्रकारों एवं विधिवेत्ताओं ने अक्षतयोनि[3] एंव [illegible] के पुनर्भू होने का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो कालान्तर में बदलती हुयी सामाजिक पृष्ठभूमि में क्षतयोनि विधवाओं के लिए भी ग्राह्य माना जाने लाग था। पूर्व मध्यकालीन विधवा पुनर्विवाह को समझने के लिए प्राचीनकाल में इसके प्रचलन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से तत्कालीन समाज में विधवा के पुनर्विवाह

---

1. काणे – धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृष्ठ–342
2. तिवारी, डी. पी., प्राचीन भारत में विधवाएं पृष्ठ–103
3. विष्णु धर्म सूत्र– 15/8–9 अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः।
   भूयस्तु असंस्कृतापि परपूर्वा।

के प्रचलन के सन्दर्भ में जानकारी मिलती है। तत्कालीन समाज में पुनर्विवाहिता को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। यद्यपि तत्कालीन समाज में पुत्रहीना विधवा को पुत्र प्राप्ति हेतु दो विकल्प थे; या तो वह पुनर्विवाह कर ले; या फिर नियोग का आश्रय ले। तत्कालीन समाज में धार्मिक परिप्रेक्ष्य में (देवऋण, पितृऋण, ऋषि ऋण) एवं पुरुषार्थो को विशेष महत्व दिया जाता था, जिसकी पूर्ति पुत्र द्वारा ही सम्भव थी, और यही विवाह का मुख्य प्रयोजन भी था। ऐसे में पति के मरने के बाद विधवा देवर या निकट सम्बन्धी से विवाह कर सन्तानोत्पत्ति सकती थी।[1]

विधवा के पुनर्विवाह की पुष्टि वेदों से होती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के श्लोक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विधवा के लिए देवर के रूप में अन्य पति अथवा पुनर्विवाह की विधि का विधान था।[2] ऋग्वेद का एक अन्य मंत्र यहाँ विशेष महत्व रखताहै, जिसमें पुनर्विवाह एवं सती-प्रथा दोनों के संकेत मिलते हैं। इस मंत्र की व्याख्या यदि उसकी अन्तिम पंक्ति के आधार पर इस प्रकार की जाये कि 'तुम्हारा पत्नीत्व मुझमें है, मुझे स्वीकार करो, नयी जिन्दगी की शुरुआत करो। इस प्रसंग में नयी जिन्दगी की

---

1. मैक्डोनल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स 1,476-77
2. ऋग्वेद, मण्डल 10 सूक्त 40 मन्त्र 5

   कुहस्विद्दोषा कुहवस्तोरश्विना

   कुहाभियित्वं करतः कुहोषतुः।

   को वां शयुत्रा विधवेव देवरं

   मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।।

शुरुआत कराने वाला उसका देवर या निकट सम्बन्धी हो सकता था।[1] इस प्रकार ऋग्वेद में पुनर्विवाह की झलक मिलती है। सायण[2] ने भी पुनर्विवाह के समर्थन में इसकी व्याख्या की है। वैदिक युग में विधवा के पुनर्विवाह की जानकारी अथर्ववेद[3] में भी मिलती है, जिसके अनुसार पति के मरने के उपरान्त स्त्री को दूसरे पति के पास जाना चाहिए, जो उसे सन्तान और धन देने वाला हो। यही सनातन धर्म है। तैत्तरीय[4] संहिता से भी पुनर्विवाह की जानकारी मिलती है। सायण[5] ने भी अपने भाष्य में पति की मृत्यु के पश्चात् दूसरा विवाह करने वाली स्त्री के लिए धर्मपत्नी शब्द प्रयुक्त किया है। जो उनके विधवा विवाह का समर्थक होना सिद्ध करता है।

---

1. ऋग्वेद, मण्डल 10 सूक्त 18 मन्त्र 8

"उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गता सुमेतमुपशेष एहि। [illegible] दधिषोतम्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंब भूव।।'; अथर्ववेद, काण्ड 18 सूक्त 3 मन्त्र 2,

2. सायण– त्वंहस्तग्रामस्य पाणिग्राहवतोदिधिषो: पुनर्विवाहेच्छो: पत्युरेतज्जनित्वं जायात्वमभिसंवभूव आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि।

3. अथर्ववेद, काण्ड 18 सूक्त 2, मन्त्र I

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चहे धेरि।।

4. तैत्तरीय संहिता, अंक 6 1 13.

5. सायण भाष्य – भार्य्या, सा (पतिलोकम्) (वृणाना) कामायमाना (प्रेतं मृतं, त्वां उपनियद्यते) समीपे नितरां प्राप्नोति। कीदृशी (पुराणं, विश्वम्) अनादि काल प्रवृत्तं कृत्स्नं स्त्री धर्म (अनुपालयन्ती) अनुक्रमेण पालयन्ती (तस्यै) धर्म, पत्न्यै त्वं इह लोके निवासार्थ अनुज्ञां दत्त्वा पुत्रादिके धनञ्च सम्पादय।'

इस प्रकार प्राचीन काल में विधवा विवाह प्रचलित था और इसे वैदिक ग्रन्थों में भी मान्यता प्रदान करते हुए, धर्मसम्मत बताया गया है। अथर्ववेद[1] के अनुसार जो पुरुष विधवा से पुनर्विवाह करता है, उसका पद भी अन्य पुरुषों के समान ही होता है क्योंकि पुनर्विवाह कोई घृणित कार्य नहीं माना जाता था। अपितु इससे नये युगल को स्वर्ग में स्थान मिलता है। अथर्ववेद में विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण श्लोक भी उल्लेखनीय है, जिसमें उल्लिखित है कि यदि कोई स्त्री पहले दस अब्राह्मण पति करे, और उसके बाद अन्त में ब्राह्मण पति है, तो ब्राह्मण ही उसका वास्तविक पति होगा।[2] इस श्लोक से विधवा के पुनर्विवाह पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता, जो उस काल में उसके प्रचलन की जानकारी प्रदान करता है। प्राचीनकाल में विधवा विवाह के प्रचलन की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि विधवाओं के प्रति भारतीय आर्यों का दृष्टिकोण उदार था और नियोग एवं विधवा विवाह के प्रचलन के पीछे मुख्य कारण धार्मिक ऋणों से मुक्ति, सुरक्षा एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की प्राप्ति था।

वैदिक कालीन समाज में विधवा विवाह के प्रचलन के विभिन्न पहलुओं की समीक्षा करते हुए अल्तेकर अपना विचार व्यक्त करते हैं कि इस प्रथा के प्रचलन का मुख्य कारण राजनीतिक दृष्टिकोण था। वैदिक काल में आर्यों की संख्या बहुत कम थी

---

1. अथर्ववेद, काण्ड 9 अनुवाक 3, सूक्त 5 मंत्र 27-28

    "या पूर्व पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्।
    पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वियोषतः।।"
    "समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
    योऽजं पंञौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति।।"

2. अथर्ववेद, 5, 17, 8, 9

और वो अपना राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ाना चाहते थे, जिसके लिए उन्हें अधिक सैनिकों की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने अपनी विधवाओं के लिए पुनर्विवाह का विधान किया, जिससे उन्हें वंशवृद्धि के द्वारा अधिक सैनिक प्राप्त हो सके।[1] इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य कारण भी उत्तरदायी थे। आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। अतः कृषि उत्पादन एवं आर्थिक समृद्धि के लिए भी उन्हें अधिक से अधिक लोगों की आवश्यकता थी, जिसके फलस्वरूप भी उन्होंने विधवा के पुनर्विवाह का समर्थन किया होगा। इस प्रकार विवेचनों से यह ज्ञात होता है, कि विधवा पुनर्विवाह के पीछे सामाजिक धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिसने प्राचीन काल में इस प्रथा के प्रचलन में सहयोग प्रदान किया।

गृह संस्कारों पर प्रकाश डालने वाले महत्वपूर्ण ग्रन्थ गृहसूत्रों[2] में यद्यपि विधवा-विवाह जैसे महत्वपूर्ण विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है, जो कदाचित इसके प्रचलन न होने की ओर इशारा करता है। धर्मसूत्रों (400 ई0 पू0-100 ई0) जिसमें धर्म एवं सदाचार से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारियाँ उल्लिखित हैं, से भी इस प्रथा के विषय में स्पष्ट जानकारी मिलती है, जिसके आधार पर यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज विधवा-पुनर्विवाह से भली-भाँति परिचित अवश्य था।

यद्यपि इस काल में एक ऐसे वर्ग का अभ्युदय हो चुका था, जो पुनर्विवाह को निन्दनीय समझता था एवं आदर्श समाज के लिए इसे उचित प्रथा नहीं मानता था। वसिष्ठ

---

1. अल्तेकर- पोजीशन ऑफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0 342, 43
2. काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ0 615

पुनर्विवाह करने वाली विधवा का वर्णन मिलता है, जिनमें ऐसी स्त्री भी विधवा कहलाती थी, जो अपनी युवावस्था में पति को त्याग कर किसी अन्य के साथ रहती थी, और पुनः पूर्व पति के पास आकर रहने लगती थी; या जो अपने नपुंसक, पागल, मृतक या जाति भ्रष्ट पति को छोड़कर दूसरा पति करती थी।[1] वसिष्ठ द्वारा अक्षतयोनि वाग्दत्ता, उदकस्पर्शिता एवं सप्तपदी पूर्ण न करने वाली कन्या को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है।[2] और उससे उत्पन्न पुत्र को दत्तक पुत्र की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है।[3] कालान्तर में पुनर्विवाह निन्दनीय समझा जाने लगा था। धर्मशास्त्रकारों द्वारा कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवाओं को, जिन्हें अविवाहित के अन्तर्गत मानकर, उनके पुनर्विवाह की अनुमति प्रदान की थी।

कश्यप[4] ने सात प्रकार की ऐसी स्त्रियों का उल्लेख किया है, जिनका पुनर्विवाह

---

1. वसिष्ठ धर्मसूत्र, 17, 19, 20 बौधायन धर्मसूत्र 2, 2, 31
   या कौमारं भर्तारमुत्सज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बं श्रयति सा पुनर्भूर्भवति।
   या च क्लीवं, पतित मुन्मतं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पति विन्दते मृतेवा सा पुनर्भूर्भवति।।
2. वसिष्ठ स्मृति 7, 6.6
   'पाणिग्राहे मृते बाला केवलं मंत्र संस्कृता।
   सा चेक्षतयोनि स्यात्पुनः संस्कार मर्हति।।"
3. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 2, पृ0 889
4. कश्यप (स्मृति चन्द्रिका, 1, 75 में उद्धृत)-
   वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमंगला। उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका।।
   अग्नि परिगता या च पुनर्भूः प्रसवा च या। इत्येताः कश्यपेनोक्ता दहन्ति कुलमग्निवत्।

नोट : काणे के अनुसार याज्ञवल्क्य (100-300 ई०) ने काश्यप का कश्यप को धर्मशास्त्र प्रयोजक नहीं माना है। अतः कश्यप जी को काश्यप धर्मसूत्र का रचयिता माना गया है। याज्ञवल्क्य के बाद के हैं, पराशर ने 'काश्यप धर्माः' की चर्चा की है, जिससे संकेत मिलता है कि कश्यप, पराशर (600-900 ई०) के पहले के धर्मशास्त्रकार हैं।
काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास), भाग 1, पृ० 37

हो सकता था। जिनमें ऐसी स्त्रियाँ— (1) जो विवाह के लिए कही जा चुकी हो, (2) पिता द्वारा जिसका जल से दान दिया जा चुका हो; (3) वह कन्या जिसकी कलाई पर वर द्वारा कंगन बाँध दिया गया हो, (4) वह जो मन से दी जा चुकी हो, (5) वह जिसका पाणिग्रहण हो चुका हो, (6) जिसने, अग्नि प्रदक्षिणा कर ली हो, (7) जो प्रसूता हो। पी० वी० काणे द्वारा इन प्रथम पांच प्रकार का उल्लेख मृत पति की विधवा के रूप में किया है, एवं अन्य को सप्तपदी पूर्ण होने से पूर्व व पश्चात् का माना है।[1] बौधायन[2] ने भी कश्यप की भांति ही सात परिस्थितियों में विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति देते हैं।

इस आधार पर यह ज्ञात होता है कि विधवा स्त्री के वर्गीकरण के आधार पर पुनर्विवाह की अनुमति शास्त्रकारों द्वारा प्रदान की गयी है, जिसके आलोक में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से हेय होते हुए भी प्राचीन से पूर्व [illegible] तक विधवा का पुनर्विवाह किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहा।

गौतम द्वारा भी विधवा पुनर्विवाह को स्वीकृति देते हुए उसके दूसरे पुत्र को वैध उत्तराधिकारी के अभाव में चौथाई सम्पत्ति का अधिकारी माना है।[3] आपस्तम्ब धर्मसूत्र

---

1. काणे– धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1 पृ० 342-43
2. वौधायन (स्मृति चन्द्रिका 1,पृ० 75 में उद्धृत) संस्कार प्रकाश पृ० 735 वाग्दत्ता मनोदत्ता अग्नि परिगता सप्तमं पदं नीता भुक्ता गृहीतगर्भा प्रसूता चेति सप्तविधा पुनर्भूर्भवति। अतस्तां गृहीत्वा न प्रजां धर्मं च विन्देत्।।
3. गौतम धर्मसूत्र 9, 4, 5, 9, 30

के पुनर्विवाह एवं सात्विकतापूर्ण जीवन-यापन दोनों का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध एवं जैन साहित्यिक ग्रन्थों में भी विधवा पुनर्विवाह का सामान्य घटना के रूप में उल्लेख मिलता है। एतद्युगीन उच्छांग जातक, नन्द जातक, वेशान्तर जातक आदि में पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है।[1] महाकाव्यकालीन (500 ई० [illegible] ई०) समाज में भी विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। रामायण महाकाव्य में यद्यपि विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख अलग से नहीं है, तथापि जे० जे० मेयर तत्कालीन समाज में इसके प्रचलन को मानते हैं।[2] उदाहरणार्थ बालि के [illegible] उसकी विधवा तारा का सुग्रीव के साथ विवाह सुविदित है और उसे समाज में सम्मानजनक स्थान भी मिला। जहाँ एक ओर विधवा विवाह का उल्लेख मिलता है, वहीं दूसरी ओर ऐसे अनेक प्रसंग भी मिलते हैं, जहाँ विधवाओं द्वारा ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन यापन को श्रेयस्कर समझा गया है। यथा राजा दशरथ की विधवा रानियों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने पुनर्विवाह की अपेक्षा ब्रह्मचर्य जीवन को अपनाया था। उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः तत्कालीन समाज में जितने पुनर्विवाह के उद्धरण मिलते हैं, वह अनार्य या राक्षस जातियों में ही है, अन्य वर्गों में सम्भवतः यह प्रथा अप्रशस्त थी।

महाभारत के अनेक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में विधवा-पुनर्विवाह का प्रचलन था। इस ग्रन्थ के भीष्म पर्व में अर्जुन द्वारा नागराज

---

1. अल्तेकर- पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० 152-53
2. जे० जे० मेयर - सेक्सुअल लाइफ इन एन्शियेन्ट इण्डिया, भाग 2, पृ० 436

ऐरावत की विधवा कन्या से विवाह एवं एरावान् नामक वीर पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है।[1] यद्यपि महाभारत में इस प्रथा के प्रचलन के कई उद्धरण मिलते हैं, किन्तु ऋषि दीर्घतमा का यह कथन, "आजसे स्त्री का एक पति होगा चाहे पति जीवित हो या मृत वह दूसरा पति नहीं कर सकती"।[2] इस कथन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में एक वर्ग ऐसा था, जो इस प्रथा की अपेक्षा ब्रह्मचर्य जीवन को श्रेष्ठ मानता था। अतः महाकाव्यकालीन ग्रन्थों के आधार पर यह कह सकते हैं कि लगभग द्वितीय शती ई० पू० तक विधवा विवाह अलोकप्रिय होने लगा था और इसे सम्भवतः आपद्धधर्म के रूप में लिया जाने लगा था। विधवा विवाह की अपेक्षा ब्रह्मचर्य जीवन को श्रेष्ठता प्रदान की जाने लगी थी। अतः यह कह सकते हैं कि इस प्रथा का विरोध करने वाला एक वर्ग भी समाज में था, जो समय-समय पर इसका विरोध करता था।

कौटिल्य[3] के अर्थशास्त्र से (तृतीय शती ई० पू०) मौर्यकालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य उक्त प्रसंग में कहते हैं कि, "जो पुरुष स्त्री से विमुख हो गया हो अर्थात् सन्यासी हो गया हो, या मर गया हो तो उसकी पत्नी कोसात मासिक धर्म तक, यदि पुत्रवती हो तो एक वर्ष रुक कर दूसरा विवाह कर लेना चाहिए।"

---

1. महाभारत, भीष्म पर्व, 6, 91, 6, 7
2. महाभारत, I, 104. 35-36
3. अर्थशास्त्र 3.4.2 - 'दीर्घ प्रवासिनः प्रव्रजितस्य प्रेतस्य वा भार्या सप्त तीर्थान्याकांक्षेत् संवत्सरं प्रजाता। ततः पति सोदर्यं गच्छेत्।।

स्मृति युग तक आते-आते विधवा-पुनर्विवाह की प्रथा पूर्वकाल की भाँति अत्यधिक प्रशस्त न रह सकी, अपितु इसकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन को श्रेय माना जाने लगा। जिसके फलस्वरूप (200 शती ई० पू० से 200 शती ई०) विधवा विवाह की प्रथा का विरोध प्रारम्भ हो गया। यद्यपि अनेकों विरोधों के उपरान्त यह प्रथा समाज से पूर्वतः विलुप्त नहीं हुई, अपितु धीरे-धीरे इसका प्रचलन उच्च वर्गों से समाप्त होने लगा। परन्तु निम्न एवं जन साधारण में यह प्रथा किसी न किसी रूप में मौजूद रही। तत्कालीन स्मृतिकारों एवं टीकाकारों द्वारा एक आदर्श विधान की स्थापना की गयी, जिसका पालन अक्षरशः तुरन्त सम्भव नहीं था। किसी भी प्रथा के अचानक किसी आदर्शपूर्ण नियम से पूर्व प्रथा का तुरन्त समापन सम्भव नहीं हो सकता, उसके समापन में सदियों लग जाती हैं। वहीं इस प्रथा के साथ भी हुआ और यह धीरे-धीरे लुप्त होती गयी, किन्तु पूर्णतः समाप्त हो गयी ऐसा हम पूर्णतः नहीं कह सकते हैं।

विधवा पुनर्विवाह से सम्बन्धित कुछ उल्लेख प्रारम्भिक स्मृतियों में भी प्राप्त होते हैं। कुछ स्मृतिकार एवं टीकाकार विधवा-पुनर्विवाह के समर्थक न होते हुए भी बाल विधवा विवाह का समर्थन करते हैं।

स्मृतियों में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें न केवल अक्षत योनि अपितु क्षत योनि विधवा के पुनर्विवाह का भी उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति में एक स्थल पर मनु लिखते हैं कि- पति की मृत्योपरान्त उसकी विधवा को सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए पुष्प, कंद, फल-फूल आदि खाकर अपने शरीर को क्षीण कर देना चाहिए,

किन्तु किसी दूसरे पुरुष का नाम नहीं लेना चाहिए।[1] इस प्रसंग में अल्तेकर[2] ने मनु को विधवा पुनर्विवाह का विरोधी के रूप में इंगित करते हैं। यद्यपि मनु ने विधवा के सात्त्विक जीवन पर बल दिया है किन्तु मनुस्मृति में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है कि स्त्री, विधवा होकर; अथवा पति से त्यागी जाने की दशा में, पुनर्विवाह कर सकती है और उससे उत्पन्न सपुत्र पौनर्भव कहलाता है। इसी सन्दर्भ में वे कहते हैं कि यदि स्त्री अक्षत योनि है तो वह पौनर्भव पति के साथ पुनर्विवाह की अधिकारिणी है।[3] अतः इन विवरणों से यह प्रतीत होता है कि मनु स्पष्ट रूप से विधवा पुनर्विवाह के समर्थक या विरोधी नहीं थे। यद्यपि वे सात्त्विक जीवन को विधवा के लिए आदर्श मानते थे, किन्तु उन्होंने विशेष परिस्थितियों में पुनर्विवाह की भी छूट दी है। मनु के अनुसार विवाह में एक पुरुष को कन्या देने के पश्चात् फिर दूसरे पुरुष को वही कन्या नहीं देनी चाहिए, नहीं तो ऐसा करने वाला मनुष्य झूठ का भागीदार बनता है।[4]

---

1. मनुस्मृति, 3, 157
2. अल्तेकर, पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ0 153
3. मनुस्मृति, 9, 175-176

   "या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वेच्छया।

   उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते।।

   सा चेदक्षतयोनिः स्याद्, गतमत्यागतीपि वा।।

   पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति।।"

4. मनुस्मृति 9, 71

विधवा पुनर्विवाह के सन्दर्भ में स्मृतिकार याज्ञवल्क्य (प्रथम ई0 पू0 से तीसरी शती ई0) के विचार उदार थे। उन्होंने क्षत योनि एवं अक्षत योनि दोनों प्रकार की विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिया है।[1] कन्या का किसी पुरुष से शरीर सम्बन्ध हुआ हो चाहे न हुआ हो, दूसरी बार विवाह होने पर वह पुनर्भू कहलाती है। जो स्त्री पति को छोड़ कर अपनी इच्छा से अपनी जाति के किसी दूसरे पुरुष को स्वीकार करती है, वह स्वैरिणी होती है। इसके अतिरिक्त स्वेच्छा से पति का त्याग करने वाली स्त्री को स्वैचारिणी कह कर उल्लिखित किया गया है। याज्ञवल्क्य के समान ही नारद भी कुछ परिस्थितियों में पुनर्भू के समर्थक थे। नारदस्मृति[2] (प्रथम से तृतीय शती ई०) तीन प्रकार की विधवाओं का उल्लेख किया है– प्रथम, जिसका पाणिग्रहण हो चुका हो, किन्तु समागम न हुआ हो, दूसरा वह स्त्री जो अपने पहले पति को छोड़कर दूसरे के साथ रहकर पुनः पूर्व पति के पास वापस आ गयी हो, एवं तृतीय प्रकार में उस पुनर्भू स्त्री का जिसका पति मर गया हो। इनमें प्रथम एवं तृतीय प्रकार में अक्षतयोनि बाल-विधवा एवं तृतीय विधवा को मृत्योपरान्त देवर से एवं देवर के न होने पर सपिण्ड के किसी पुरुष से पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किया है।[3] इसके अतिरिक्त नारद ने

---

1. याज्ञवल्क्य स्मृति - 1-67

   अक्षता च, क्षता चैव पुनर्भू संस्कृता पुनः।

   स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत।।

2. नारद स्मृति, 12, 45

3. नारद स्मृति, 12, 46-48

   कन्यैवाक्षतयोनिर्वा पाणिग्रहणदूषिता।

   पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारमर्हति।।

   कौमारं पतिमुत्सृज्य यात्वन्यं पुरुषं श्रिता। पुनः पत्युर्गृहमियात् सा द्वितीया प्रकीर्त्तिता।।

   असत्सु देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते। सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता।

कुछ अन्य परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है, जिसके अनुसार स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। जिनमें एक ब्राह्मणी को परदेश गये हुए पति का आठ वर्ष और यदि सन्तानहीन है तो चार वर्ष की अवधि तक प्रतीक्षा करके दूसरे पति का आश्रय ले लेना चाहिए।[1] इससे तात्पर्य है कि वह पुनर्विवाह करने की अधिकारिणी थी। इस प्रकार का उल्लेख करते हुए इस प्रसंग में कात्यायन (4-5वीं शती ई०) लिखते हैं कि- यदि किसी स्त्री का पति विवाह के पश्चात् मर गया हो, तो ऐसी स्त्री को तीन मासिक धर्म तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् पुनर्विवाह कर लेना चाहिए।[2] यहाँ पर तीन मासिक धर्म तक प्रतीक्षा से कात्यायन का तात्पर्य सम्भवतः गर्भवती होने की निश्चितता के सन्दर्भ में था, कि वह गर्भवती है या नहीं।

कलियुग के लिए महत्वपूर्ण समझी जाने वाली पराशर स्मृति (6-9वीं शती ई०) से भी विधवा-पुनर्विवाह पर प्रकाश पड़ता है। पराशर में पाँच आपत्तिकाल में स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्रदान किया है- उदाहरणार्थ "पति के खो जाने पर, हो जाने पर, सन्यासी, एवं नपुंसक या पतित होने पर।[3] उपर्युक्त इन परिस्थितियों में पति

---

1. नारद स्मृति 12, 98-

   'अष्टौ वर्षाव्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
   अप्रसूता तु चत्वारि पखोऽन्यं समाश्रयेत्।।

2. कात्यायन स्मृति (पराशर माधवीय में उद्धृत)-

   वरयित्वाः तुयः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा।
   कृत्वागर्भा स्त्री नयीत्व कन्यापं वरयेत् परम्।।

3. पराशर स्मृति 4, 30

   'नष्टे मृते परिब्रजते क्लीवे च पतिते पतौ।
   पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।

की मृत्यु के पश्चात् विधवा को भी पुनर्विवाह का अधिकार प्राप्त है। यद्यपि पराशर, यद्यपि पराशर स्मृति में विधवा पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है, किन्तु यह वधिान आपत्तिकाल में ही धर्म सम्मत माना गया है, लेकिन सामान्य परिस्थितियों में विधवा पुनर्विवाह को धर्म सम्मत नहीं माना गया है। पराशर, स्मृति के अनुसार, पति की मृत्यु के पश्चात जो विधवाएं सात्त्विक जीवन अपनाती है, वो स्वर्ग को प्राप्त करती हैं और जो सती होती है, वो मनुष्य के शरीर के रोएं के समान उतने ही वर्ष तक स्वर्ग में निवास करती है।[1] इस प्रकार पराशर स्मृति में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण पुनर्विवाह की अपेक्षा विधवा के सात्त्विक जीवन पर बल दिया गया है। लघु शतातप स्मृति (600-900 ई०) में हमें विधवा पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है। इस प्रसंग में शतातप लिखते हैं कि- अक्षतयोनि विधवा को कन्या के समान समझना चाहिए और उसका, किसी अच्छे कुल और शील वाले वर से पुनर्विवाह कर देना चाहिए।[2]

---

1. पराशर स्मृति, 4, 31-32

   मृते भर्त्तरि या नारी ब्रह्मचर्य्यव्रते स्थिता।
   सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः।।
   तिस्रः कोटयोऽर्ध कोटी च यानि लोमानि मानवे।
   तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति।।

2. लघु शतातप, स्मृति V, 44; अल्तेकर, पो० आ० वि० हि० सि० पृ० 154 पर उद्धृत
   उद्वाहिता च या कन्या न संप्राप्ता च मैथुनम् । भर्त्तारं पुनरभ्येति यथा कन्या तथैव सा।।
   समुद्र धृत्य तु तां कन्यां साचेदक्षतयोनिका। कुल शीलवते दद्यादिति शातातपेऽब्रवीत

इस काल खण्ड तक समाज में विधवा विवाह के निषेध की प्रथा बढ़ती जा रही थी, और सती होने की परम्परा तीव्र हो रही थी। यही कारण है कि पराशर की भांति ही तत्कालीन शंख, अंगिरस, व्यास, यक्ष, हारीत आत्री और यम जैसे अन्य स्मृतिकारों ने भी पुनर्विवाह की अपेक्षा विधवा द्वारा सात्त्विक जीवन या उसके सती हो जाने को ही श्रेष्ठ माना है।

प्रस्तुत मतों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 6-9वीं शताब्दी के मध्य बदलती हुई, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि ने विधवा के पुनर्विवाह के प्रचलन को कम किया; और सती को बल दिया।[1] तत्कालीन समाज में विशेष परिस्थितियों में ही पुनर्भू को एक विकल्प के रूप में अपनाने की स्वीकृति प्रदान की और इसका दूसरा विकल्प नियोग समाज में पूर्व से मौजूद था और इससे पुत्र व मृतक पति की सम्पत्ति के साथ ही सामाजिक सम्मान भी मिलता था। अतः कुलीन घरानों में पुनर्विवाह का प्रचलन कम होने लगा और तत्कालीन समाज द्वारा विधवा को मिली सम्पत्ति के अधिकार की लालसा ने इसे प्रश्रय देना लगभग बन्द कर दिया। विधवा पुनर्विवाह के कम होने में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति भी उत्तरदायी थी, क्योंकि अरब, तुर्क, शक इत्यादि आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे, जिससे रक्त मिश्रण एवं वर्ण संकरता को रोकने के लिए विद्वानों द्वारा सम्भवतः विधवा के सात्त्विक जीवन पर जोर दिया जाने लगा था। इस प्रकार पुनर्विवाह धीरे-धीरे समाज में निषिद्ध माना जाने लगा था, यद्यपि यह

---

1. शर्मा आर० एस० - भारतीय सामन्तवाद, अध्याय 2, पृ० 81-82

पूर्णतः समाप्त न हुआ था और किसी न किसी रूप में समाज में प्रचलित रहा।

स्मृतियों के अतिरिक्त स्मृति के कुछ टीकाकार विधवा के पुनर्विवाह का कुछ विशेष परिस्थितियों में समर्थन करते हैं। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट (11[illegible]-1300 ई०) के अनुसार जिस स्त्री को पति द्वारा त्याग दिया गया हो; या जिसका पति मर गया हो, वह स्वेच्छा से पुनर्विवाह कर सकती है और उससे उत्पन्न पुत्र पौनर्भव कहलायेगा।[1] उक्त सन्दर्भ में यह स्पष्ट है कि कुल्लूक भट्ट न केवल विधवा का अपितु जो पति को छोड़कर दूसरे के पास रहने वाली और पुनः पूर्व पति के पास वापस आ जाने वाली स्त्री को भी पुनर्विवाह की अधिकारिणी माना है। [illegible] स्मृति के

---

1. मनुस्मृति 9, 175-76 पर कुल्लूक भट्ट की टीका

"या भर्त्रा परित्यक्ता मृतभर्तृका वा स्वेच्छयान्यास्य पुनर्भार्या भूत्वा यमुत्पादयेत्स उत्पादकस्य पौनर्भवः पुत्र उच्यते।।" सा स्त्री यद्यक्षतयोनिःसत्यन्यमाश्रयेत्तदा तेन पौनर्भवेन भर्त्रा पुनर्विवाहारण्यं संस्कारमर्हति। यद्वा कौमारं पतिमुप्सृ ज्यान्यमाश्रित्य पुनस्तमेव प्रत्यागता भवति तदा तेन कौमारेण भर्त्रा पुनर्विवाहाख्यं संस्कार मर्हति।।"

टीकाकार विज्ञानेश्वर (1080-1000 ई०) में मिताक्षरा[1] में दो प्रकार की स्त्रियों का वर्णन किया है, जिसमें प्रथम अनन्यपूर्वा से तात्पर्य उन स्त्रियों से है, जिनका विवाह संस्कार से पहले किसी अन्य के साथ विवाह या समागम न हुआ हो और दूसरी अन्यपूर्वा अर्थात् जिनका विवाहसे पूर्व अन्य पुरुष से सम्बन्ध हो गया हो। इस स्थल पर अन्यपूर्वा को भी दो प्रकार की बताया गया है– स्वैरिणी औरदूसरी पुनर्भू। पुनर्भू से तात्पर्य जिसका पुनर्विवाह हो सकता था। इसी प्रकार विज्ञानेश्वर ने भी विधवा के पुनर्विवाह का समर्थन किया है। इस स्मृति के अन्य टीकाकार अपरार्क (11-12वीं शती) ने भी बाल विधवा के अतिरिक्त बलात्कारपूर्वक एवं हरण की जाने वाली स्त्री को भी पुनर्भू होने का अधिकार प्रदान किया है।[2] इसी तरह पूर्वमध्यकालीन कतिपय अन्य विधिकारों ने भी विधवा पुनर्विवाह के सन्दर्भ में कुछ परिस्थितियों में अपना उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए, इसे समर्थन प्रदान किया है।

पूर्वमध्यकालीन स्मृति संग्रहकार श्रीधर के अपने ग्रन्थ स्मृत्यर्थसार (1150-1200 ई०) में कुछ धर्मशास्त्रकारों के मतों का उल्लेख करते हुए चार प्रकार की परिस्थितियों

---

1. याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा की टीका 1-67

   "अन्य पूर्वा द्विविधा पुनर्भूः स्वैरिणी चेति। पुनर्भूरपि द्विविधा क्षन्ता, चाक्षत्ता च। तत्र क्षता संकारात्प्रागेव पुरुपसम्वन्ध दूषिता। या पुनः कौमारे पति त्यक्त्वा कामतः सवर्णमाश्रयति सा स्वैरिणीति।"

2. याज्ञवल्क्य पर अपरार्क की टीका (उद्धृत ब्रह्म पुराण पृ0 97)

   यदि सा बाल विधवा, बलातत्यक्तायथवा क्वचिद् तदा त्रयस्तु संस्कार्या गृहीया येन केनचित्।।"

में पुनर्भू का उल्लेख किया है: जिसके अनुसार विधवा हुई स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। प्रथम- यदि सप्तपदी होने के पूर्व ही वर की मृत्यु हो जाये; द्वितीय सम्भोग से पूर्व ही वर की मृत्यु हो जाये; तृतीय विवाहोपरान्त कन्या के [illegible] होने से पूर्व यदि पति की मृत्यु हो जाये; चतुर्थ, गर्भवती होने से पूर्व पति की मृत्यु हो जाये आदि।[1]

प्रस्तुत मतों का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि पुनर्विवाह के साथ ही साथ बाल विधवा का विवाह भी 1100 ई० तक धीरे-धीरे समाप्त होने लगा था और कई स्मृतिकारों द्वारा इसका विरोध भी किया जाने लगा था। पराशर स्मृति के टीकाकार माधव पुनर्विवाह को पूर्वयुगों के लिए मानते हुए, कलियुग में इसे निषिद्ध बताया है।[2]

उपर्युक्त विवेच्य विषय में हमें पुराणों से भी महत्वपूर्ण जानकारियां मिलती हैं। पुराणों का रचनाकाल तृतीय शती ई० से लेकर [illegible] तक आता है अतः इनमें विधवाओं से सम्बन्धित विषयों पर विस्तार से प्रकाश पड़ता है।

पद्म पुराण (900-1500 ई०)[3] के भूमिखण्ड में विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है। इस पुराण में लक्षद्वीप के राजा दिवोदास की विधवा पुत्री दिव्यादेवी का वर्णन मिलता है, जो राजा चित्रसेन के विवाह मण्डप में ही मर जाने से विधवा हो गयी थी। जिसके पुनर्विवाह करने के लिए राजा, "ब्राह्मणों से विधि पूछता है, तो ब्राह्मण कहते

---

1. काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1, पृ० 343
2. पराशर माधवीय, 2, भाग 1, पृ० 53
3. हाजरा के अनुसार इस पुराण के आदिखण्ड की रचना 950 ई० के लगभग तथा उत्तर खण्ड की रचना 900-1500 ई० के बीच हुयी। हाजरा, पुराणिक रिकार्डस आफ हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम, पृ० 111-114 द्रष्टव्य – दुबे हरिनारायण, पुराण समीक्षा पृ० 81

हैं कि– ऐसी स्त्री जिसका विवाह के पश्चात् बिना सम्भोग के ही पति मर गया हो या उसे छोड़कर चला जाये, सन्यासी हो जाये या उसे महारोग हो जाये, तो ऐसी परिस्थिति में उसका पुनर्विवाह धर्मसम्मत है। इस पुराण में उल्लेख मिलता है कि रजस्वला होने तक विवाहिता कन्या का पुनर्विवाह धर्मानुकूल माना जाता था।[1] पुराण में एक अन्य स्थल पर राजा द्वारा इक्कीस बार अपनी पुत्री का पुनर्विवाह करने और उसके सभी पतियों के मर जाने का उल्लेख मिलता है, जिससे दुःखी होकर अन्त में दिव्यादेवी कन्दराओं में चली गयी।[2] इस प्रकार इन वर्णनों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः तद्युगीन समाज में अक्षत योनि विधवा के पुनर्विवाह को धर्मसम्मत समझा जाता था।

स्मृतियों एवं पुराणों के अतिरिक्त धर्मेत्तर साहित्यिक ग्रन्थों से भी विधवा पुनर्विवाह पर प्रकाश पड़ता है। अमरकोश में पुनर्विवाह के अर्थ के रूप में पुनर्भू शब्द का प्रयोग मिलता है। वात्स्यायन (5-6वीं शती ई०) ने अपने ग्रन्थ कामसूत्र में

---

1. पद्मपुराण अध्याय 85, श्लोक 56, 59, 60-61
   तस्या विवाहयज्ञस्य संप्राप्ते समये नृपै। मृतोऽसौ चित्रसेनस्तु कालधर्मेण वै किल।। विवाहो जायते राजन् कन्यायास्तु विधानतः। पतिर्मृत्युं प्रयात्यस्या नोचे (संगं करोति च।। महाव्याध्यभिभूतश्च त्यागं कृत्वा प्रयाति वा। प्रव्राजितो भवेदराजन् धर्मशास्त्रेपु दृश्यते।। उद्वाहितायां कन्यायमुद्वाहः क्रियते बुधैः।। न स्याद्रजस्वला यावदन्येष्वपि विधीयते। विवाहं तु विधानेन पिता कुर्य्यान्न संशयः।।
2. वही अध्याय 85, 65-66
   यदा-यदा महाभागो दिव्या देवयाश्च भूमिपः चक्रे विवाहं तद् भर्त्ता म्रियते [illegible]।। एकविंशतिभर्त्तारः काले-काले मृतास्तदा। ततो राजा महादुखी संजातः ख्यात विक्रमः।।

विधवाओं का वर्णन तो किया है, किन्तु उनमें पुनर्विवाह का उल्लेख नहीं मिलता है, अपितु बिना विवाह के ही स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य पुरुष के साथ पति-पत्नी की भाँति रहने वाली स्त्रियों का उल्लेख किया है। वराहमिहिर (5-6वीं शती ई०) के ग्रन्थ [illegible] एवं वृहज्जातक में बाल-विधवाओं एवं विधवाओं का उल्लेख पुनर्भू शब्द के द्वारा किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में पुनर्विवाह निषिद्ध नहीं था। निशीथचूर्णी नामक जैन ग्रन्थ (7वीं शती ई0) में विधवा पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों, काव्यमीमांसा, नाट्य दर्पण, हर्षचरित पर शंकराचार्य की टीका, मजमल-उत-तवारीख इत्यादि में गुप्तकालीन सम्राट चन्द्रगुप्त द्वारा अपने भाई रामगुप्त की मृत्यु के पश्चात उसकी विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह के प्रसंग का उल्लेख मिलता है।[1]

उपर्युक्त मतों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि 600 से 1200 शती ई0 के बीच विधवा विवाह निषिद्ध होने लगा था, क्योंकि इसके समर्थन में कम और खण्डन में ज्यादा साक्ष्य मिलते हैं। जिस पर अपना मत व्यक्त करते हुए दशरथ शर्मा[2] लिखते हैं कि एतद् काल तक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों में विधवा विवाह

---

1. जर्नल आफ बिहार एण्ड ओरीसा रिसर्च ओसाइटी जिल्द 15, पृ0 139, [illegible] राय, गुप्त राजवंश का इतिहास पृ0 176-178; काव्य मीमांसा अंक 9 पृ0 148-49; रामचन्द्र गुण चन्द्र की नाट्य दर्पण पृ0 76 रम्यां चारति कारिणी च करुणां शोकेन नीता दशां। तत्कालोपगतेन राहु शिरसा गुप्तेव चांद्री कला। पत्यु: क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसःसत। लज्जा कोप विषादभीत्परतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति। उदय नारायण राय गुप्त राजवंश तथा उनका युग पृ0 176 पर उद्धृत।
2. दशरथ शर्मा, चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय एवं उसका युग पृ0 55

या तो होते ही नहीं थे या बहुत कम होते थे, अर्थात् यह प्रथा उच्च वर्गीय द्विजों में प्रचलित नहीं थी अपितु निम्न वर्गीय समाज में ज्यादा था। अल्तेकर के अनुसार कि यह प्रथा उच्च वर्गीय समाज में निषिद्ध थी और निम्न जातीय में प्रचलित थी।[1] इन विद्वानों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वारा विधवा से विवाह का वर्णन मिलता है जो वैश्य था। यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इसी समय विधवा पुनर्विवाह के सन्दर्भ में जो उल्लेख पद्मपुराण में मिलता है, वह राजा दिवोदास क्षत्रिय था।[2]

पूर्व मध्यकालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह के स्थान पर राजपूत, सती प्रथा का प्रचलन बढ़ने लगा था, यद्यपि परमार काल में शूद्रों में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन कुछ साक्ष्य मिलते हैं।[3] चचनामा और तारीखे-सिन्ध नामक ग्रन्थों में (7वीं शताब्दी में) सिन्ध के शासक दाहिर को दायसाहसी द्वितीय की विधवा और उसके ब्राह्मण मंत्री चच का पुत्र कहा गया है।[4] जिससे यह ज्ञात होता है कि राय साहसी की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा ने पुनर्विवाह कर लिया था।

---

1. अल्तेकर, पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० 156
2. उपाध्याय, गंगा प्रसाद – विधवा विवाह मीमांसा 134; तिवारी, डी० पी० प्राचीन भारत में विधवाएं पृ० 124.
3. श्रीमती गीता गुप्ता – अभिलेखों के आधार पर परमारों का सांस्कृतिक अध्ययन शोध पृ० 164
4. इलियट एण्ड डाउसन – हिस्ट्री आफ इण्डिया रेज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, जिल्द 1, पृ० 131; पाठक, उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास पृ० 207

इसके अतिरिक्त जैन साहित्यिक ग्रन्थों से भी विधवा पुनर्विवाह के विषय में जानकारियां मिलती हैं। उक्त प्रसंग में धोलका के प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हें पुनर्विवाहिता विधवा का पुत्र कहा गया है।[1]

उपर्युक्त उल्लिखित विभिन्न साक्ष्यों के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पुनर्विवाह की जिस व्यवस्था का उल्लेख मिलता है, वह व्यवस्था धीरे-धीरे प्रथम से द्वितीय शती ई० की सामाजिक व्यवस्था द्वारा अनुकरणीय न समझी गयी और तत्कालीन विधि वेत्ताओं द्वारा इसके विरोध एवं निषेध पर बल देकर इसमें स्थान पर सात्विक जीवन व्यतीत करने पर बल दिया जाने लगा। जिसके अन्तर्गत प्राचीन मतों की पुनर्व्याख्या करके, उन पर अनेक टीकाएं लिखी गयी, जिसमें पुनर्विवाह को निन्दनीय एवं अपमानजनक समझ कर इसका कड़ा विरोध किया गया। छठी शती तक आते-आते विरोध की गति तीव्र हो गई और पूर्वमध्यकाल तक शास्त्रकारों का दृष्टिकोण विधवा पुनर्विवाह के विरुद्ध हो गया। उन्होंने विधवा को पुत्र की संरक्षिका के रूप में सम्पत्ति का अधिकार दे कर, उसे आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की और उसके सात्विक जीवन यापन को धर्म से जोड़कर अनेक नियमों का विधान किया। इसी समय समाज में सामन्तवादी प्रवृत्तियों का भी अभ्युदय हो रहा था और इसके साथ-ही-साथ अनेक विदेशी आक्रमण भी प्रारम्भ होने लगे थे। इन्हीं समाजार्थिक परिवर्तनों ने सामाजिक

---

1. गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा - मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (600-1200 ई0) पृ0 55, सचाऊ - अल्बरूनीज इण्डिया जिल्द 2, पृ0 164

दृष्टिकोण को प्रभावित किया।[1] तत्कालीन बदलती हुई परिस्थितियों में स्त्रियों की शुचिता एवं पवित्रता को बनाये रखने एवं अश्लीलता को रोकने के लिए, योद्धा वर्ग द्वारा अपनी विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य एवं पुनर्विवाह के स्थान पर सती प्रथा पर बल देकर इसे महिमामण्डित किया गया। योद्धा वर्ग की विधवाएं सती होना अपने लिए गौरव का विषय मानती थी। इन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त मृतक की सम्पत्ति की लालसा ने स्वजनों को पुनर्विवाह की अपेक्षा विधवा को सती होने के लिए प्रोत्साहित किया जाने लगा। धार्मिक[1] एवं साहित्यिक ग्रन्थों में पुनर्विवाह को कलियुग के लिए वर्जित मान कर, इसका विरोध किया गया। इन समस्त कारणों के परिणामस्वरूप पुनर्विवाह की व्यवस्था कमजोर हुयी और शुचिता और पवित्रता के आलोक में सती प्रथा एवं ब्रह्मचर्यत्व का प्रचलन बढ़ा।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित पुनर्विवाह के समर्थन के अतिरिक्त तत्कालीन धर्मशास्त्रों ग्रन्थों, स्मृतियों, उनकी टीकाओं, पुराणों एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में परवर्ती पुनर्विवाह की प्रथा को अनेक प्रकार से निन्दनीय बताते हुए, सात्विक जीवन को आदर्श के रूप में उल्लिखित किया गया है। धर्म शास्त्रकारों ने इस प्रथा का पूरी शक्ति के साथ विरोध किया है। यद्यपि विधवा पुनर्विवाह का निषेध प्रथम शती ई० से प्रारम्भ हो गया था,

---

1. शर्मा, आर० एस०, भारतीय सामन्तवाद, अध्याय 2, पृ० 81-82 यादव बी० एन० एस० सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इण्डिया अध्याय 3, पृ० 137-181
2. वामन पुराण 7, 35

तथापि गुप्तोत्तर काल के पश्चात् इसको यह कठोरतापूर्वक लागू कर दिया गया था और इस निषेध के अन्तर्गत इनमें वे कन्याएं भी सम्मिलित हो गयी थीं, जिन्हें [illegible] में ही वैधव्य का सामना करना पड़ा था तथा जिनके पति की मृत्यु, विवाह सम्पन्न होने के पूर्व ही हो गयी थी।[1]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी विधवा पुनर्विवाह की निन्दा करते हुए एक स्थल पर उल्लिखित है कि 'यदि कोई पुरुष उस स्त्री से समागम करता है, जिसका कोई पति रह चुका हो, तो वह पाप का भागीदार होता है। उक्त सूत्र में एक स्थल पर दत्ता, वागदत्ता, उदकस्पर्शिता आदि विधवाओं के पुनर्विवाह को निषिद्ध बताया गया है।[2] विधवा पुनर्विवाह का स्मृतियों के टीकाकारों द्वारा छठी शती ई0 से पूर्णतः खण्डन किया जाने लगा था। इसे उच्च एवं आदर्श समाज के लिए निन्दनीय समझा जाता था।

मनुस्मृति में यद्यपि अक्षत योनि विधवा के पुनर्विवाह करने का उल्लेख मिलता है, किन्तु वे क्षत योनी विधवा के पुनर्विवाह की निन्दा करते हैं। उनके मतानुसार सदाचारी स्त्रियों के लिए दूसरे पति की कोई आवश्यकता नहीं होती।[3] वे ब्रह्मचर्य की महत्ता को बढ़ाते हुए लिखते हैं, कि जो विधवा ब्रह्मचर्य का पालन करती है वह स्वर्ग

---

1. ए० एल० बाशम, अद्‌भुत भारत पृ० 155
2. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 26.13-14; 1.3.12, "दत्तां गुप्तां द्योतामृषभां शरभां विनीतां विकयं भुण्डां मण्डूषिकां सांगारिकाम् रातां पाली मित्रां स्वनुजां वर्षकारी च वर्जयेत्।।
3. मनुस्मृति 5.162 यान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाक्षन्यपरिग्रहे।
   ना द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचित् भर्त्तोपदिश्यते।

की अधिकारिणी होती है।[1] उक्त सन्दर्भ में मनुस्मृति के टीकाकार भारुचि (9वीं शती का प्रथमार्द्ध) भी विधवा को पुनर्विवाह की अपेक्षा संयम एवं सात्त्विक जीवन व्यतीत करने पर बल देते हैं।[2] मनु के एक अन्य टीकाकार मेघातिथि भी विधवा पुनर्विवाह को निन्दनीय एवं निषिद्ध मानते हैं। इस प्रसंग में पराशर स्मृति के एक श्लोक (4. 30) की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि पति के मृत होने पर पराशर ने जो पुनर्विवाह का विधान दिया है, उसने प्रयुक्त 'पत्यौ' शब्द का अर्थ भरण–पोषण करने वाले पालक के रूप में लिया जाना चाहिए, न कि विधवा के पति के रूप में। मेधातिथि ने विधवा को आपद्काल में भरण–पोषण के लिए सेविका का कार्य अपनाने का भी उल्लेख किया है, किन्तु अन्य विवाह करने का नहीं,[3] क्योंकि सात्विक जीवन–यापन केलिए उसे ज्यादा धन व परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिए उसे कन्द, फल एवं मूल आदि जो बिना किसी धन के प्रकृति से प्राप्त होते हैं उसके आधार पर अपना शेष जीवन व्यतीत कर देना चाहिए, किन्तु किसी अन्य पुरुष का आश्रय नहीं लेना चाहिए।[4] मनुस्मृति के एक अन्य टीकाकार नारायण पण्डित[5] (12वीं शती ई०) भी विधवा के

---

1. मनुस्मति, 5/160 मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्रीब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः।।
2. भारुचि (मनुस्मृति 9, 75-76 पर टीका)।
3. मेधातिथि की मनुस्मृति 5, 157 पर टीका
'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पन्चस्वायत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।
इति तप्र पालनात् पतिमन्यमाश्रयेत् सैरन्ध्रकर्मादिनी आत्मवृत्यर्क च।।
4. वही, 157, 165 पर टीका
5. मनु, 5.157 पर नारायण पण्डित की टीका; दास, आर० एम० विमिन इन मनु एण्ड दियर सेवेन कमेन्टेटर्स भाग 7, पृ० 227

पुनर्विवाह का खण्डन करते हुए उसके सात्त्विक जीवन का समर्थन किया है। वे मेघातिथि के समान ही विधवा से सम्बन्धित विधानों का समर्थन करते हैं।

मनु के टीकाकार कुल्लूक भट्ट (12-13 शती ई०) के अनुसार, [illegible] न करने वाली विधवा को पति की सम्पत्ति मिले या न मिले, [illegible] अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए।[1]

नारद भी क्षत योनि विधवा के पुनर्विवाह का निषेध करते हुए कि कन्या के विवाह को एक बार होने को ही श्रेष्ठ मानते हैं।[2] नारायण ने भी अपनी स्मृति में कलियुग में पाप की वृद्धि का कारण विधवा का पुनर्विवाह को मानकर, इसे निषिद्ध मानते हैं। इस स्मृति में एक अन्य स्थल पर विधवा पुनर्विवाह को पाप [illegible] इसके प्रश्रय देने वाले को दण्डनीय बताया है।[3] विधवा पुनर्विवाह को अंगिरा [illegible] पाप की भांति मानते हुए, प्रायश्चित का उल्लेख करते है। उनके अनुसार यदि कोई व्यक्ति पुनर्भू स्त्री के घर भोजन करता है, तो उसे चन्द्रायण व्रत करके उसका [illegible] करना चाहिए।[4]

---

1. मनु पर कुल्लूक की टीका 5/157
2. नारद स्मृति, 12.28
3. नारायण स्मृति, 7.1-2 कलौ तु कानि कर्माणि वर्ज्यानि परिचक्ष्व मे। दुर्वासा उवाच - श्रुणु नारायण ब्रह्मन् सावधानतयाद्य मे। कलौतु पापबाहुल्यात् [illegible] मानवैः। विधवापुनरुद्वोहा नौयात्रा तु समुद्रतः।
4. अंगिरा स्मृति, 19-2 18, 110, 114

कश्यप ने भी विधवा पुनर्विवाह की निन्दा करते हुए ऐसी स्त्री को अग्नि की भांति कुलनाशिनी के रूप में वर्णित किया है।[1] व्याघ्रपद स्मृति में भी विधवा पुनर्विवाह की इसी प्रकार निन्दा की गयी है।[2] व्यास स्मृति में भी, विधवा पुनर्विवाह की कलियुग में निन्दा की गयी है।[3] इसी स्मृदि में एक अन्य स्थल पर उल्लेख मिलता है कि अज्ञानतावश यदि कोई पुरुष विधवा स्त्री से विवाह कर भी ले, किन्तु उसके वैधव्य का ज्ञान होते ही उसे स्त्रीका परित्याग करके, एक वर्ष तक अवकीर्ण व्रत द्वारा प्रायश्चित करना चाहिए।[4] इस सन्दर्भ में पूर्वमध्यकालीन स्मृतिकार देवण्भट्ट (1200-1225 ई०) अपने ग्रन्थ स्मृति चन्द्रिका में लिखते हैं कि पुनर्विवाह इस काल के लिए व्यावहारिक नहीं हैं।[5]

इस प्रकार स्मृतियों एवं उनके टीकाकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि 11-12वीं सदी तक विधवा पुनर्विवाह समाज में निषिद्ध माना जाने लगा था। इस समय तक वे सभी स्त्रियां जिनका विवाह भी पूर्णतः सम्पन्न नहीं हो पाता था, भी विधवाओं

---

1. कश्यप संहिता श्लोक 5-6
2. व्याघ्रपाद स्मृति 376-378
3. व्यास स्मृति - ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा।
   कलौपंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्।।
४. लघु आश्वलायन स्मृति 21, 14
   युगान्तरे स धर्मः स्यात्कर्षो निद्यं इति स्मृतिः।
   अल्लेकर पाजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृष्ठ 155 पर उद्धृत।
4. निंद्य प्रकरण श्लोक सं० 17 से 19
5. देवणभट्ट - स्मृति-चन्द्रिका पृ० 221. एवं च यानि संस्काराद्र्ध्वमक्ष तयोन्या पुनरुद्वाहपराणि
   तानि युगांतराभिप्रायाणीति [illegible]

की श्रेणी में आ गयी थी और उनका पुनर्विवाह भी निषिद्ध माना जाने लगा था।[1]

स्मृतियों की भाँति ही पूर्व मध्यकालीन पुराणों में भी विधवा पुनर्विवाह को निषिद्ध ठहराते हुए, इसे कलिवर्ज्य शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। आदित्य पुराण में एक स्थल पर लिखा है कि विधवा-विवाह, गोवध, नियोग एवं सन्यास इत्यादि कलियुग में निषिद्ध है।[2] ब्रह्मपुराण (10-12वीं शती ई०) में भी पुनर्विवाह को कलियुग में निन्दनीय कहा गया है।[3]

नारदीय पुराण में भी कलियुग में पुनर्विवाह वर्जित बताया गया है। स्कन्दपुराण[4] (700-900 ई0) एवं वामनपुराण[5] (10वीं शती ई०) में भी विधवा पुनर्विवाह का निषेध मिलता है। इस पुराण के अनुसार विधवा से पुनर्विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता था, एवं उससे विवाह करने वाले व्यक्ति को समाज से न केवल निष्कासित कर दिया जाता था अपितु उसे प्रायश्चित भी करना पड़ता था। प्रस्तुत पुराण में एक अन्य स्थल पर विधवा विवाह की निन्दा करते हुए लिखा गया है कि– विधवा से विवाह करने वाला या अविवाहित को दूषित करने वाला या उससे उत्पन्न पुत्र के यहाँ श्राद्ध भोजन करना

---

1. अल्तेकर - पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ0 156
2. आदित्यपुराण - "ऊढ़ायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा।
   कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्।।"
3. ब्रह्मपुराण का उद्धरण अपरार्क पृ 97 में उद्धृत–
   "स्त्रीणा पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्र सन्ततिः। स्वातंह्य च कलियुगे कर्तव्यं न कदाचन।।'
4. स्कन्दपुराण खण्ड 4, 75
5. वामन् पुराण 12, 35 - "पुनर्भूपतयो ये कन्या विध्वंस कास्य ये।
   तद्गर्भत्राद्धयुग याञ्च कृमिन्भक्षेतपिपीलिका।।

कृमि एवं पीपलिका का भक्षण करने के समान था।

पुराणों के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में भी विधवा पुनर्विवाह को निन्दनीय बताया गया है। यद्यपि 5वीं-6वीं शती के समाज में नियोग प्रथा लुप्त हो गयी थी, और यदा-कदा सती के प्रमाण भी प्राप्त होने लगते हैं, इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः विशेष परिस्थितियों के रूप में पुनर्विवाह भी समाज में कहीं न कहीं अस्तित्व में जरूर रहा होगा। शूद्रक[1] (5-6वीं शती) के ग्रन्थ मृच्छकटिक में विधवाओं के सती होने का उल्लेख मिलता है। भारवि (छठी शती ई0) के किरातार्जुनीयम्[2] नामक नाटक में शत्रु की विधवाओं के यातनापूर्ण एवं दुःखद जीवन का विस्तृत विवरण मिलता है जिससे तत्कालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन न होने की जानकारी मिलती है। 7-8वीं शती ई0 के बाणभट्ट के हर्षचरित[3] तथा कादम्बरी, हर्ष की प्रियदर्शिका एवं भट्ट नारायण के वेणीसंहार[4] इत्यादि ग्रन्थों में भी पुनर्विवाह की अपेक्षा सती होने के अधिक उल्लेख मिलते हैं। जैन ग्रन्थकार हरिभद्र सूरि (8वीं शती) ने समराइच्चकहा[5] में विधवा के उपेक्षित जीवन का वर्णन किया है, उनके अनुसार यद्यपि विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थी, फिर भी इसकी अपेक्षा वो सती होने में गौरव महसूस करती थीं।

कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थों से भी उस समय विधवा-पुनर्विवाह के प्रचलन में न

---

1. मृच्छकटिकम् अंक 10
2. किरातार्जुनीयम् 11 67
3. हर्षचरित् 5, पृ० 292-03
4. वेणीसंहार अंक 4
5. समराइच्चकहा, पृ० 664-66

होने व उसे हेय समझने का उल्लेख मिलता है। ग्यारहवीं-बारहवीं शती के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली 'संकलित ग्रन्थ रासमाला[1] से तत्कालीन राजस्थान और गुजरात के चालुक्य (या सोलंकी) राजपूत वंश एवं तत्कालीन समाज पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस ग्रन्थ से भी विधवा पुनर्विवाह के ऊपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। त्रिपुरी के कल्चुरि वंश में भी उपर्युक्त व्यवस्था का ही अनुकरण किया गया था, इनके अभिलेखों में भी विधवा पुनर्विवाह पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। विधवा स्त्रियां तत्कालीन समय में या तो सती होती थी या अपने पुत्र की संरक्षिका के रूप में सात्विक जीवन यापन करती थी।[2] सोमदेव के कथासरितसागर (11वीं शती ई०) तथा कल्हण की राजतरंगिणी[3] से भी तत्कालीन समाज में विधवा पुनर्विवाह के प्रचलन न होने एवं निन्दनीय समझे जाने की जानकारी मिलती है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होता है कि, इस काल खण्ड में विधवा रानियों द्वारा पुनर्विवाह की अपेक्षा सती होना या पुत्र की संरक्षिका बनकर सात्विक जीवन व्यतीत करने को श्रेष्ठ समझा जाता था और उसे ही आदर्श मानकर अपनाया गया था।

प्राचीन स्मृतियों, उनकी टीकाओं एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों के अतिरिक्त विधवा पुनर्विवाह के सम्बन्ध में विदेशी यात्रियों के विवरणों से भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग (7वीं शती) अपने यात्रा वर्णन में तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर

---

1. ए० के० फोर्व्स, हिन्दू एनल्स आफ वेस्टर्न इण्डिया में वर्णित'
2. शर्मा, आर० के०, कल्चुरिस एण्ड दियर टाइम्स, पृ० 174; कापूर्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेज्म्, जिल्द 4, पृ० 169;
3. राय, एस० सा०, अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर (12वीं शती ई०) से कश्मीर

प्रकाश डालते हुए लिखता है कि विधवाएं कभी भी पुनर्विवाह नहीं करती थी।[1] इसी तरह का मत व्यक्त करते हुए अल्बरूनी[2] (11-12वीं ई०) लिखते हैं कि पति की मृत्योपरान्त विधवाएं पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी, उनके सामने दो ही विकल्प थे या तो वो सती हो जाती थी; या सात्विक जीवन व्यतीत करती थी। जो स्त्रियां सती नहीं होती थी, उनकी सम्पत्ति राजा द्वारा हड़प ली जाती थी और उन्हें भरण-पोषण मात्र मिलता था। इन यात्रियों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल में पुनर्विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाता था।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित साक्ष्यों के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में प्रशस्त रूप से धर्मसम्मत समझी जाने वाली विधवा पुनर्विवाह की व्यवस्था का निषेध प्रारम्भ हो गया और धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति पूर्व मध्यकाल में बढ़ती गयी और सम्भवतः इसका लोप भी हो गया। इसका मुख्य कारण सामाजिक संकीर्णता था। यद्यपि प्राचीन काल की यह व्यवस्था अचानक समाप्त नहीं हुई, अपितु इसमें कई वर्षों की अवधि लग गयी। फिर भी निश्चितता से यह नहीं कहा जा सकता है कि यह प्रथा समाज में पूर्णतः समाप्त हो गयी अपितु में इसका प्रचलन अवश्य कम हो गया था। डॉ० अल्तेकर[3] का मत है कि यद्यपि यह प्रथा उच्चवर्गीय समाज में काफी हद तक समाप्त हो गयी थी, किन्तु निम्न वर्ग में कुछ हद तक, यह किसी न किसी हद तक अवश्य प्रचलित रही होगी। इसके अनेक उदाहरण हमें वर्तमानसमय में भी आदिवासियों, कबीलों एवं निम्नवर्गीय समाज में स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

---

1. वार्ट्स, युवानच्वांग ट्रेवल्स इन इंडिया, 1904-5 भाग 1, पृ0 168
2. सचाऊ - अल्बरूनीज इंडिया भाग 2 पृ0 155-56; 165
3. अल्तेकर - पो0 वि0 हि0 सि0 पृ0 156

नियोग

नियोग शब्द नि + युज् + घञ् से मिलकर बना है, जिसका सामान्य अर्थ अनुरक्त होना, सम्बद्ध होने या जुड़ने से है।[1] क्रिया अर्थ में घञ् प्रत्यय से नि + युज + घ् + अ + ञ् से नियोग शब्द की निष्पत्ति होती है[2]; जिससे तात्पर्य निर्धारित कर्त्तव्य या किसी की देख–रेख में आयुक्त कार्य से है।[3] शब्द स्तोम महानिधि में कार्य अर्थ में इसका अर्थ निश्चय पूर्वक किसी कार्य को करने के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[4] मोनियर विलियम्स के मतानुसार मृतक की स्त्री के साथ देवर या अन्य निकट सम्बन्धी द्वारा वैवाहिक रीति से सन्तानोत्पत्ति ही नियोग कहलाता है।[5] प्रस्तुत सन्दर्भ में नियोग से तात्पर्य है, पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से पति की मृत्यु हो जाने पर, पर पुरुष से पुत्रोत्पत्ति कराना।

हिन्दू समाज में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा नारी को धर्मशास्त्रकारों द्वारा

---

1. आप्टे, वा. शि. संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ. 836
2. पाणिनी, अष्टाध्यायी, 1-3-8 युज् धातु में नि उपसर्ग लगाकर भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय लगाकार नि + युज् + घ् + अ + ञ् बनता है। इसमें घ् और 'ञ्' इत् संज्ञक होकर लुप्त होने से नि + युज् + अ + नि + युज् में कुत्व आदेश से युज् का युग और गुणादेश से योग बनता है, जिससे नियोग शब्द की उत्पत्ति होती है।
3. आप्टे, वा. शि., पूर्वोक्त, पृ. 529
4. शब्द स्तोम महानिधि पृ. 245, वैजयन्ती कोश – 5-2-25
5. विलियम्स, मोमियर, ए-संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, पृ. 552

तीन विकल्प प्रदान किया गया था, प्रथम पुनर्विवाह अथवा नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति करना, दूसरा–सात्विक जीवन अपनाते हुए वैधव्य व्यतीत करना और तृतीय विकल्प पति की चिता के साथ सती हो जाना।[1] इन तीनों विकल्पों में प्राचीनकाल में निःसन्तान विधवा के लिए अपने देवर या किसी सपिण्ड निर्दिष्ट व्यक्ति के साथ समागम करके, नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति को श्रेष्ठ माना जाता था। यद्यपि इन तीनों विकल्पों में सात्त्विक जीवन व्यतीत करने को उत्तम माना जाता था। किन्तु निःसन्तान विधवा के लिए नियोग का विधान भी धर्मशास्त्रकारों द्वारा किया गया था। प्राचीन काल में नियोग से पुत्रोत्पत्ति करने का अधिकार विधवा के साथ उन सधवा स्त्रियों को भी था, जिनके पति पुत्रोत्पत्ति में असमर्थ थे। प्रस्तुत सन्दर्भ में नियोग विधवा के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया गया है। प्राचीनकालीन समाज में विवाह संस्कार के उच्च आदर्श होते हुए भी इस प्रथा के प्रचलन के पीछे मुख्य कारण पुत्रोत्पत्ति द्वारा (धार्मिक कृत्य के अन्तर्गत चारों पुरूषार्थों के अन्तर्गत) ऋणों से मुक्ति थी, क्योंकि एक समाज में यह धारणा थी कि पुत्रहीनों को सदगति नहीं प्राप्त होती। अतः सद्गति प्राप्त करने के लिए नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति श्रेष्ठ मार्ग था। इसके अतिरिक्त कुछ सामाजिक एवं आर्थिक कारण भी इसके प्रचलन में सहयोगी रहे। तैत्तरीय उपनिषद[2] के अनुसार वंश की परम्परा को आगे बढ़ाने एवं पुत्रहीनों की सद्गति की अवधारणा ने इस प्रथा के विकास में सहयोग किया। प्राचीनकाल में विधवा को पति की सम्पत्ति का दापाद नहीं स्वीकार किया गया था,

---

1. अल्तेकर, पो० वू० हि० सि० पृष्ठ–143
2. तैत० उप० शिक्षावल्ली – प्रजातंतु मा व्यवच्छेत्सीः। अपुत्रस्य गति नास्ति।।

क्योंकि पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का ही अधिकार था। अतः विधवा को आर्थिक रूप से सहयोग के लिए पुत्र की आवश्यकता थी, जो नियोग प्रथा की उत्पत्ति का एक मुख्य कारण रहा होगा।[1] डॉ. अल्तेकर के मतानुसार स्त्री को भी परिवार की सम्पत्ति माना जाता था, और पर-पुरुष से पुनर्विवाह के पश्चात परिवार का एक सदस्य व उसके साथ स्त्रीधन भी बाहर के व्यक्ति को मिलता था। अतः परिवार की सम्पत्ति का विघटन न हो, इसी कारणवश नियोग प्रथा पर बल दिया गया।[2] विंटरनित्ज के मतानुसार नियोग प्रथा के प्रचलन का कारण दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार था।[3] डॉ. काणे, विन्टरनित्ज के इस मत से सहमत नहीं है, उन्होंने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि वैदिककालीन समाज में आर्यों के युद्धप्रिय होने के कारण पुरूषों की संख्या में कमी आयी होगी, न कि स्त्रियों की।[4] इसके प्रचलन के दोनों अन्य कारणों की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार नियोग से एक विधवा स्त्री को पुत्र की प्राप्ति होती थी, जिससे उसे पतिकुल में रहने का अधिकार प्राप्त हो जाता था।

उपर्युक्त विवरण से विदित होता है कि, प्राचीन भारत में नियोग-प्रथा के प्रचलन के पीछे अनेक कारण उत्तरदायी थे। सम्भवतः आर्यो द्वारा राजनीतिक प्रभुत्व की वृद्धि और आर्थिक समृद्धता प्राप्त करने के लिए विधवाओं के लिए नियोग-प्रथा का विधान

---

1. तिवारी, डी० पी० प्रा० भा. वि. पृ.-77
2. अस्तेकर, पो० वू० हि० सि. पृ. 144
3. जे. ओ० आ० ए० एस० बी० 1897 पृ. 758
4. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1 पृ. 341

किया होगा। इस प्रथा के प्रचलन में धार्मिक कारणों की भी भूमिका अहम् थी, क्योंकि वैदिककालीन समाज में मोक्ष के लिए तीन ऋणों (ऋषि, देव एवं पितृ) से मुक्ति आवश्यक थी और इन तीन ॠणों से मुक्ति सन्तानोत्पत्ति द्वारा ही सम्भव थी अतः अमरता प्राप्त करने की अभिलाषा ने भी इस प्रथा के विकास में योगदान दिया।

इस प्रकार प्राचीन काल से प्रचलित यह प्रथा ईसा की प्रारम्भिक शती ई. तक समाज में प्रचलित थी, लेकिन धीरे-धीरे नियोग के निर्धारित नियमों की पालना में होने वाली त्रुटियों के कारण यह प्रथा निन्दनीय समझी जाने लगी। एक पतित्व की उच्च भावना तथा वैवाहिक सम्बन्धों की पवित्रता को मानने वाले धर्मशात्रकारों ने इस प्रथा को गर्हित बताते हुए, इसे परिवार तथा समाज के लिए अव्यवहारिक मानने लगे। कालान्तर में ईसा की प्रारम्भिक शती ई. से समाज में विधवाओं के पुनर्भू होने का विधान भी सामान्यतया मिलने लगा था।[2]

प्रारम्भिक स्मृतियों में भी तत्कालीन समाज में इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति (द्वितीय शती ई.पू.-द्वितीय शती ई.) में यद्यपि इस प्रथा का उल्लेख तत्कालीन समाज में प्रचलन के सन्दर्भ में मिला है, लेकिन इस प्रथा को वो मान्यता नहीं प्रदान करते थे। उनके मतानुसार विवाह संस्कार की किसी भी विधि तथा मंत्रों में नियोग का उल्लेख नहीं हुआ है।[3] मनु ने इस प्रथा को गर्हित बताते हुए मानवों के

---

1. वशिष्ठ धर्मसूत्र- 17, 19, 20, 66, 17, 75, 67 गौतम ध. सू. 9, 45, 30
2. मनु. स्मृ. 9, 65 नोद्वहिकेषु मंत्रेषु, नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

लिए पशुधर्म के समान उल्लिखित किया था।[1] वृहस्पति ने भी कलियुग के मानवों के लिए मनु के सदृश ही नियोग को गर्हित बताया है।[2]

कालान्तर में नियोग के लिये निर्दिष्ट विधानों में शिथिलता आने लगी एवं संयुक्त परिवार का भी धीरे-धीरे विघटन होने लगा। धर्मशास्त्रों एवं स्मृति ग्रन्थों में इसके नियमों का पालन करना। मानवों के लिए कठिन बताया गया है। नियोग के कारण समाज में व्यभिचार एवं वर्ण संकरता की बढोत्तरी होने लगी और पारिवारिक जीवन की पवित्रता एवं नैतिकता का विघटन होने लगा, जिसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे समाज में इसे हेय समझा जाने लगा। पूर्वमध्यकाल तक सामाजिक स्थिति में परिवर्तनों के परिणास्वरूप विधवा को पति की सम्पत्ति का दायाधिकार प्राप्त हो गया। अतः अब नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करके, पति की सम्पत्ति प्राप्त करने की आवश्यकता समाप्त हो गयी। पूर्व मध्यकालीन स्मृतियों (600-900 ई०) एवं उनके टीकाकारों द्वारा इसे कलिवर्ज्य विषय के अन्तर्गत रखा गया।

पूर्व मध्यकालीन समाज में सामंतीय प्रवृत्तियों के अभ्युदय से एवं विदेशी शक्तियों के सम्मिश्रण से वर्णसंकरता बढ़ने लगी[3] जिस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए विधवाओं को सम्पत्ति का दायाधिकार देकर उनके सात्विक जीवन यापन पर जोर दिया जाने लगा। अतः इन परिवर्तनों से नियोग एवं पुनर्विवाह जैसे विकल्पों का लोप हो गया।

---

1. मनुस्मृति, 9, 66-63
2. वृह० स्म० (मनु० 9, 168 की टीका पर उद्धृत)
3. शर्मा, आर० एस० - भारतीय सामन्तवाद, भाग-2 पृ. 81-82

वी.एन. शर्मा के मतानुसार, स्त्रियों की शुचिता एवं पवित्रता के बढ़ते हुए सामाजिक दृष्टिकोण ने विधवा पुनर्विवाह तथा नियोग प्रथा की समाप्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया जिसके परिणामस्वरूप सती, प्रथा का अभ्युदय हुआ।[1]

यद्यपि प्रारम्भिक स्मृतियों में नियोग से सम्बन्धित विभिन्न मत मिलते हैं, तथापि आलोच्ययुगीन टीकाकार अपने पूर्ववर्ती स्मृतिकारों के मतो से पूर्णतः सहमत नहीं है। मनु ने नियोग के जिस अनुशासित एवं प्रतिबन्धित स्वरूप को उपस्थित किया, उनके टीकाकारों ने भी उसका समर्थन किया था। मनुस्मृति के टीकाकार मेघातिथि (825-900 ई०) के अनुसार यद्यपि स्मृतियों में नियोग की आज्ञा प्रदान की गयी है, लेकिन यह लोक व्यवहार के विरुद्ध है। नियोग की चर्चा करते हुए मेघातिथि लिखते हैं कि नियोग के लिए निर्दिष्ट व्यक्ति पति के परिवार से सम्बन्धित होना चाहिए।[2] इसके लिए पिता कुल का व्यक्ति अनुमति नहीं दे सकता था और नियोग द्वारा मात्र एक सन्तान ही सम्भव है। यदि व्यक्ति अपने प्रयास में असफल होता है तो उसे पुत्र प्राप्ति की चेष्टा से इसका बार-बार सहारा नहीं लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा करना पाप है।[3] मेधातिथि के कथन समाज में इसके प्रचलन को दर्शाते है व्यक्तिगत रूप से उनकी धारणा इस प्रथा के विरुद्ध थी। उनके अनुसार, "यदि नियोग से पुत्री उत्पन्न हो और इस प्रकार

---

1. शर्मा वी. एन. - सोशल लाइफ आफ नार्दन इण्डिया, पृ. 20-22
2. मेधातिथि (मनु. 9, 59 पर टीका - "मुखश्चश्वश्रूखशुर श्चदेवरादयः भर्तृसंगोत्रा दृष्टव्या न पित्रादयः।।
3. वही, 9, 64 पर टीका।

की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए।[1]

मनुस्मृति के एक अन्य टीकाकार गोविन्दराज (1080–1110 ई०) द्वारा अनियोग को नियोग से उत्तम माना गया है।[2] इस प्रसंग में सर्वज्ञनारायण (12वीं शती ई.) द्वारा भी अपने पूर्ववर्ती लोगों के विचारों का समर्थन करते हुए नियोग की निन्दा की गयी है।[3] यदि एक व्यक्ति की कई पत्नियाँ हों और उनमें से एक के भी पुत्र हो तो ऐसी स्थिति में किसी अन्य को नियोग के लिये नियुक्त नहीं होना चाहिए।[4] मनुस्मृति पर टीका करते हुए कुल्लूक भट्ट (12वीं.-13वीं शती ई.) नियोग को एक सामाजिक विधान मानते थे, जो प्राचीन ऋषियों एवं मुनियों के लिए था किन्तु कलियुग के लिए यह वर्जित विषय था।[5]

नारद–स्मृति के टीकाकार असहाय (8वीं शती ई.) द्वारा भी नियोग प्रथा को धर्मशास्त्रकारों द्वारा समर्थित होते हुए भी, लोकाचार के विरुद्ध वर्णित माना गया है।[6]

---

1. वही मनु 3, 5 पर टीका –

 नियोगोविहितः तत् उत्पन्नाया नास्ति पूर्वोक्त विशेषणैः निषेधः।

 अतः पृथक निषिध्यते अनैधुनीति। ततो नियोगोत्पन्ना कामतो न विवाहा.....।।

2. गोविन्दराज (मनु. 9,68), सर्वदैव सन्ताणभावे नियोगादनियोग पक्ष श्रेयान।।

3. सर्वश्र नारायण (मनु. 9.65) सर्वमध्यन्तरमतमुक्ता स्वमतमाह।

4. वही, (मनु. 9,183),

 एवमेकस्यां सपत्न्यां पुत्रपत्यामन्य स्यामन पत्यायामपि नियोगो न कार्यः।

5. कुल्लूक भट्ट (मनु. 9,68), अयं च स्वोक्तानियोग निषेधः कलियुग विषयः।

6. नारद स्मृ. 1/39 पर असहाय की टीका–अपुत्रां गुर्पनुज्ञातो देवरः पुत्र काम्पया.......।

 इत्यादि धर्मशास्त्रोक्तमपि लोकाचार व्यवहारे च परित्यक्तम।।

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्वरूप (9वी शती ई.) नियोग-प्रथा को सिर्फ शूद्रों तथा निःसन्तान राजाओं के लिए ग्राहर्य मानते थे।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर कुछ विशेश परिस्थितियों में नियोग को ग्राह्य मानते थे।

विज्ञानेश्वर (1080-1100ई0) नियोग के सम्बन्ध में लिखा है कि विधवायें पुत्रोत्पत्ति की कामना से गुरूजनों की अनुमति से देवर या सपिण्ड से नियोग कर सकती थीं।[2] इसी प्रसंग में आगे वे लिखते हैं कि "नियोग के उद्देश्य के बिना, स्वेच्छा से विधवा के पास जाने वाला व्यक्ति अपराधी है और उसे 100 पण तक जुर्माना देना पड़ेगा।[3] अपरार्क (1110-1130 ई०) नियोग को निकृष्ट एवं कलियुग के लिये वर्जित मानते थे।"[4] देवणभट्ट कृत स्मृतिचन्द्रिका (1200-1225 ई.) में भी नियोग को निषिद्ध बताया गया है। इस संदर्भ में लिखा गया है निःसन्तान भाई को अन्य भाई के पुत्र होने पर नियोग का सहारा नहीं लेना चाहिए अपितु उसी पुत्र को अपने पुत्रवत समझना

---

1. विशरूप माज्ञवल्क्य स्मृ0 1, 69 पर टीका
2. विज्ञानेश्वर (याज्ञ. 1,68,68,69) पर टीका,
3. वही (याज्ञ. 2,234 पर टीका),

   नियोग बिना यः स्वेच्छया विधवां गच्छति.......

   ते सर्वे प्रत्येक षणशतं दण्डार्हा भर्वान्त।।
4. अपरार्क (याज्ञवल्क्य स्मृ. 1. 69 पर टीका।

चाहिए।[1] क्रतु स्मृति[2] एवं बौधायन स्मृति[3] में भी नियोग की निन्दा करते हुए इस प्रथा का निषेध किया गया है। आलोच्य युगीन (600–900 ई० की) लघु स्मृतियों उदाहरणार्थ शंख, अंगिरा, व्यास, देवल, दक्ष, हारीत, यम आदि में भी नियोग को निषिद्ध बताया गया है।

गौतम धर्मसूत्र के टीकाकार हरदत्त (12 वी–13वी शती ई०) ने भी नियोग को वर्जित एवं निन्दनीय बताया है।[4]

यद्यपि प्रारम्भिक पुराणों में भी (300–600 ई०) नियोग का विधान मिलता है, किन्तु परवर्ती पुराणों में स्मृतियों की भाँति ही इसका विरोध मिलता है। 6वीं 7वीं शती० ई० के पुराणों में इसे कलिवर्ज्य शीर्षक के अन्तर्गत स्थान दिया गया। आलोच्ययुगीन आदि, आदित्य तथा गरूड़ पुराणों (900–1100 ई०) में नियोग-प्रथा को कलियुग के लिए निषिद्ध बताया गया है। ब्रह्मपुराण एवं नारदीय पुराण (10–12वी शती० ई०) में

---
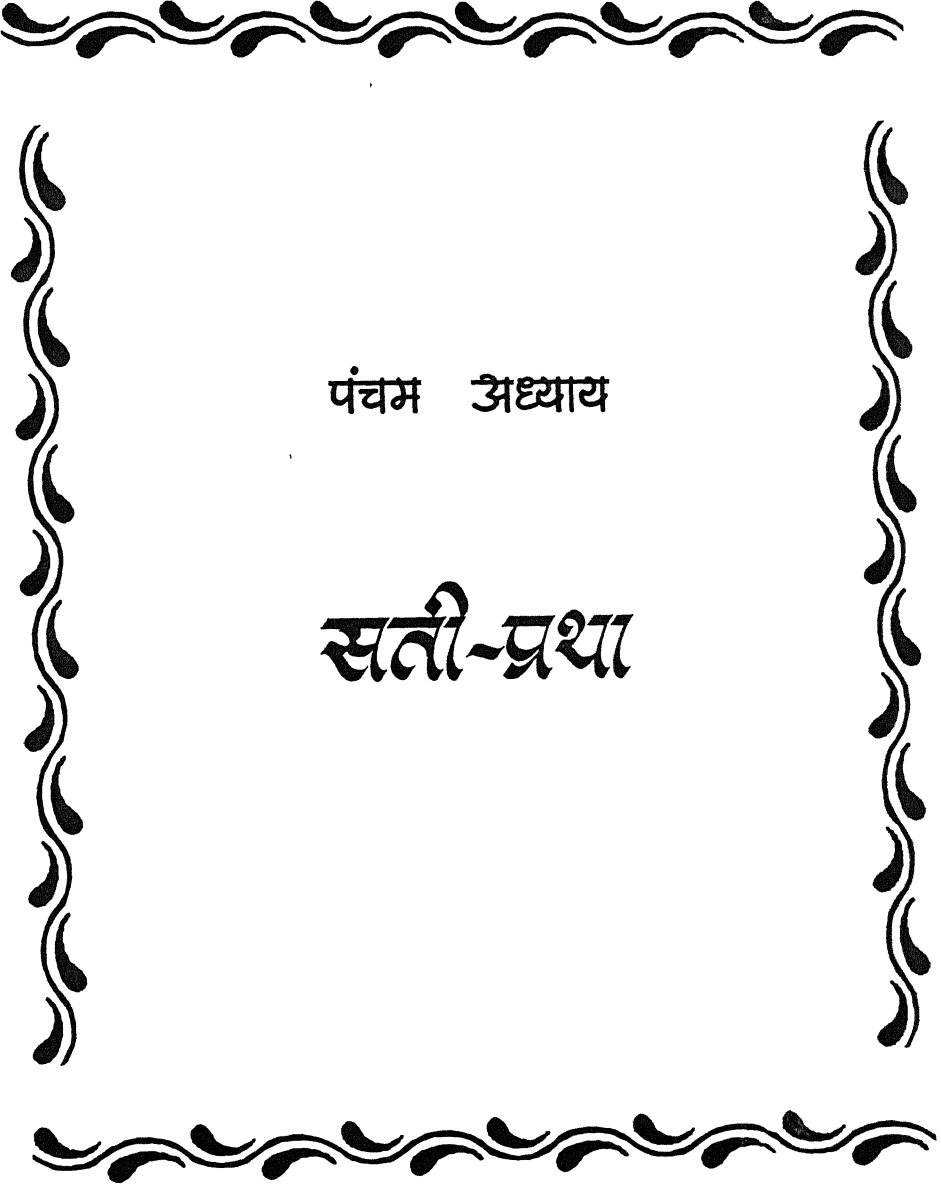
1. स्मृति मुक्ताफल, प्रथमखण्ड पृ. 102 पंक्ति 28; कालादर्श अपुत्रो भ्राता भ्रातृपुत्रसभवे
   तेनैव पुत्री कुर्यान्नान्येनेति।
2. स्मृति मुक्ताफलम भाग 1 पृ. 139 पर उद्धत; क्रतु;
   देवरान्नसुतोत्पति दत्ताकन्या न दीपते।
   न यज्ञें गोवधः कार्यः कलौ न च कमण्डलुः।।
3. वही भाग 1 पृ. 139 पर उद्धत बौधायन,
   विधिर्योडनुष्ठिः पूर्व क्रियते नैव सांप्रतम।
   पुराकल्पः स यद्व बौधायन, विधिर्योडनुष्ठिः पूर्व क्रियते नैव सांप्रतम।
   पुराकल्पः स यद्वच्च विधवायाः नियोजनम्।।
4. विष्णु पुराण 4,19,3 1,127, 113

नियोग को सतयुग के लिए ग्राह्य एवं कलियुग के लिए निषिद्ध बताया गया है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से विदित होता है कि प्राचीनकाल से शास्त्रविहित नियोग प्रथा पूर्वमध्यकाल तक आते-आते बदलती हुयी सामाजिक पृष्ठभूमि में निंदनीय समझी जाने लगी थी। प्राचीनकाल में विकसित नियोग प्रथा दूसरी, तीसरी शती ई. में विधवा के पुनर्भू का विधान मिलने से अवनति की ओर अग्रसर होते हुए, 5-6वीं शती ई० में विधवा को दायाधिकार मिल जाने के कारण धीरे-धीरे लुप्त हो गयी। विवेच्य युग में नियोग के स्थान पर, विधवा के सात्विक जीवन, शुचिता एवं एक पतिव्रता के आदर्शों का प्रादुर्भाव हुआ और नियोग को कलिवर्ज्य बताते हुए धर्मशास्त्रकारों एवं स्मृतिकारों, एवं टीकाकारों द्वारा इसकी निन्दा की गयी। पूर्वमध्यकाल तक आते-आते यह प्रथा समाज द्वारा बहिष्कृत होकर लुप्त प्राय हो गयी।

❑

---

1. ब्रह्मपुराण उद्धृत अपरार्क पृ० 908; नारदीय पुराण 24, 3-10

पंचम अध्याय

सती-प्रथा

सती-प्रथा

सत् शब्द में ङीप् प्रत्यय लगाने से सती[1] शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है—पति परायणा साध्वी स्त्री सौराष्ट्र देश की मिट्टी और शिव की भार्या।[2] अमरकोश में सती शब्द से तात्पर्य, एक सच्चरित्र और पवित्र स्त्री बताया गया है।[3] वैजयन्तीकोश[4] में सती शब्द से तात्पर्य, कुलपालिका साध्वी स्त्री के रूप में किया गया है। हिन्दू धर्मकोश[5] में भी सती शब्द का प्रयोग उपर्युक्त सन्दर्भ में ही किया गया है। मत्स्यपुराण[6] में सती को आदि शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है। श्रीमद्भागवत महापुराण में दक्षदुहिता, शिव की पत्नी के नाम के रूप में सती का उल्लेख किया गया है।[7] उपर्युक्त समस्त वर्णनों में सती शब्द का अर्थ कहीं भी दाह के सम्बन्ध में प्रयुक्त

---

1. सती शब्द की व्युत्पत्ति असीत् अस शम् उगीत्यात् ङीप बतायी गयी है। 'अस्' धातु से "शतृ" प्रत्यय होने से स्त्रीत्व की विविक्षा में ईकार प्रत्यय हुआ तथा 'अस' के आकार का लोप होने से 'सती' शब्द की निष्पत्ति हुई। तिवारी, डी० पी० प्रा० भा० वि० पृ० 15.
2. यम० मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० 1135
3. अमरसिंह नामालिंगानुशासनम् 6/6 "सुचरित्रा तु सती साध्वी पतिव्रता
4. यादव प्रकाश वैजयन्ती कोश 'अचिरव्यूढा तु वधूः पतिवरा तु स्वयंवरा वर्या। कुलपालिका कुलस्त्री कुल्याथ सती पतिव्रता साध्वी।।'
5. हिन्दू धर्म कोश राजबली पाण्डेय
6. मत्स्य पुराण 13/13
7. भागवत पुराण 14/1/47-48; 4/1/65

नहीं हुआ है। दाह के सन्दर्भ में सती शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम शिव पुराण[1] में मिलता है। इस पुराण में शिव की पत्नी, सती की कथा का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार है—

एक बार सती (शिव पत्नी) अपने पिता यक्ष प्रजापति के यज्ञ अनुष्ठान में, अपने पति शिव के द्वारा मना किये जाने के बाद भी पहुँच गयी। वहाँ उनके पिता ने उनके पति के लिए अपमानजनक शब्द कहे, जिन्हें सती ने अपने पातिव्रत्य धर्म पर कलंक समझा और यज्ञ की अग्नि में आत्मदाह कर लिया था, जिसके कारण वो संसार में सती के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] कालान्तर में धार्मिक दृष्टि से सती शब्द उन स्त्रियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा, जो सत्य, पातिव्रत्य धर्म का पालन करती थी, तथा अपने पति के मृत्योपरान्त उसके शव के साथ स्वयं को जला देती थी।[3]

सती का शाब्दिक अर्थ है 'अमर अथवा सत्य के पथ पर चलने वाली।' धार्मिक ग्रन्थों में सती को अमरता प्राप्त कर कीर्ति बढ़ाने वाली स्त्री के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु व्यवहारतः सती एक ऐसी प्रथा है, जिसमें पत्नी अपने पति के मृत्योपरान्त उसकी चिता में स्वयं को भस्म कर लेती थी। विधवा स्त्री के लिए सती होना, उसका धर्म माना जाता था। सती प्रथा का प्रचलन भारतीय समाज में ही नहीं, अपितु विश्व के अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी प्रचलित थी। यह प्राचीन यूनानियों, जर्मनों, स्लावों

---

1. शिव पुराण 3/15, 8
2. तिवारी, डी० पी० प्रा० भा० वि० पृ० 17, पर उद्धृत।
3. इन साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड इथिक्स, भाग 11, पृ० 207

एवं अन्य जातियों में भी पायी गयी है।[1]

सती शब्द को अभिव्यक्ति करने के लिए, प्राचीन भारतीय साहित्य में अन्वारोहण (मृत पति के साथ चिता पर चढ़ना) सहगमन (मृत पति का अनुगमन करना), सहमरण (मृत पति के साथ मरना) और अनुमरण (विदेश प्रवास काल में पति की मृत्यु के बाद उसकी भस्म या चिन्ह के साथ उसकी विधवा का जलकर मरना)[2] इत्यादि शब्दों का उल्लेख है। इन शब्दों से विवाहोपरान्त पति-पत्नी के अटूट प्रगाढ़ और अविच्छिन्न इहलौकिक और परलौकिक सम्बन्धों की जानकारी मिलती है। अतः सती की अवधारणा अपने पति के प्रति त्याग, अनुराग एवं बलिदान के परिप्रेक्ष्य में थी।

काणे के अनुसार सती प्रथा के प्रचलन के पीछे कोई परलौकिक या धार्मिक दबाव था। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में यह प्रथा राजकुलों एवं भद्र लोगों तक ही सीमित थी। इसकी व्याख्या करते हुए काणे द्वारा कहा गया है, प्राचीन काल में विजित राजाओं एवं शूरों की पत्नियों की स्थिति बड़ी ही दयनीय होती थी। विजयी लोग पराजित राजाओं की पत्नियों को बन्दी बनाकर साथ ले जाते थे और उनके साथ दासियों जैसा व्यवहार करते थे।"[3]

---

1. डाई फ्रौ० पृ० 56, 82-83 एवं श्चैडर, प्रीहिस्टारिक एण्टीक्वीरिज ऑव दि आर्यन् पीपुल, 1890 पृ० 391; वेस्टरमार्क ऑरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑव मॉरल आइडियाज, 1906, जिल्द 1, पृ० 472-476।
2. जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सा० इति० 12, पृ० 437
3. धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द I, पृ० 350

कुछ इतिहासकार सती प्रथा को मृत्योपरान्त जीवन की कल्पना से जोड़ते हैं। प्राचीन समाज में यह एक आम धारणा थी कि मृत्योपरान्त जीवन इसी जीवन का प्रतिबिम्ब होता है। अतः इस जीवन में एक व्यक्ति को जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वह उसके अगले जीवन में भी होगी। इसी विषय को उल्लिखित करते हुए अल्तेकर[1] ने लिखा है कि एक योद्धा जब मरता है तो उसे मृत्योपरान्त अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की आवश्यकता होती है, जैसे उसकी सामान्य और व्यक्तिगत आवश्यकता की वस्तुएं कपड़े, हथियार, घोड़े, नौकर एवं पत्नी। अतः इन सभी को उसकी चिता के साथ जला कर या दफना कर उस तक पहुँचाने का प्रयास किया जाता था। संभवतः इस मान्यता के परिणामस्वरूप सती प्रथा का प्रचलन बढ़ा होगा। परन्तु जैसा अल्तेकर ने लिखा है कि पुरुष हर समाज में सर्वशक्तिशाली था और वह किसी भी ऐसी परम्परा को समर्थन नहीं दे सकता था, जो उसके हितों के विपरीत हो।[2] सती प्रथा से राजा और सामंत स्वयं को सुरक्षित महसूस करते थे, क्योंकि जब उनकी पत्नियों को यह पाता हो कि राजा की मृत्यु के उपरान्त कोई भी जीवित नहीं बच सकेगा, तो वे ना केवल राजा के खिलाफ षड्यंत्र करेंगी अपितु राजा का विशेष ध्यान देगी, जिससे कहीं कोई दुर्घटना ना घटित हो जाये।[3]

---

1. अल्तेकर, ए० एस० द पोजीशन आफ वूमेन इन हिन्दू सिवालिइजेशन पृ० 115-116
2. अल्तेकर पो० आ० वू० इन हि० सि० पृ० 116
3. वही पृ० 116-117

कतिपय विद्वान सती प्रथा के पीछे आर्थिक कारणों को मान्यता देते हैं। सती प्रथा के आर्थिक पहलू पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यह प्रथा विधवाओं को सम्पत्ति से वंचित कर, सम्पत्ति के बँटवारे को सीमित करने के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आयी होगी। विधवा का सम्पत्ति पर अधिकार व सती के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए अश्विनी अग्रवाल ने लिखा है कि जब तक विधवाओं को सम्पत्ति पर अधिकार की अवधारणा का विकास नहीं हुआ था, तब तक उनसे मुक्ति पाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु जैसे-जैसे विधवाओं को सम्पत्ति के अधिकार में वृद्धि होती गई, वैसे-वैसे सती प्रथा में भी वृद्धि हुई, जब तक इसे विधवाओं का एकमात्र धर्म न घोषित कर दिया गया।"[1] सती प्रथा के प्रचलन के पीछे पुरुष की भागीदारी को दर्शाते हुए अश्विनी अग्रवाल ने मत व्यक्त किया है कि इस विचार में कोई दम नहीं है कि विधवा हमेशा स्वेच्छा से सती हो जाया करती थी, क्योंकि इस सन्दर्भ में बल प्रयोग के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं।[2] उदाहरणार्थ—बंगाल में अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ विधवाओं को पति की चिता के साथ अन्यथा किसी खम्भे से बाँध दिया जाता था, ताकि अग्नि की पीड़ा से व्याकुल होकर वो बिना जले ही बाहर न भाग सके।

कल्हण ने अपनी रचना राजतरंगिणी में उच्छला की रानी जयमती को बल पूर्वक सती होने का उल्लेख किया है,[3] जो उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करते हैं। सती के पीछे

---

1. अग्रवाल अश्विनी : इकोनामिक एसपेक्ट्स आफ सती, पृ० 57-58
2. वही, पृ० 65
3. कल्हण; राजतरंगिनी XIII, 363-69

मानव की सम्पत्ति मोह भावना को उजागर करते हुए काणे ने कहा है कि बंगाल में जहाँ दायभाग' का प्रचलन था पुत्रहीन विधवा को संयुक्त परिवार में वही अधिकार था जो उसके पति का होता था। ऐसी स्थिति में परिवार के अन्य लोग पति की मृत्यु पर पत्नी की पति भक्ति को पर्याप्त मात्रा में उत्तेजित कर देते थे, जिससे की वह पति की चिता में भस्म हो जाये।"[1]

भारत में सती यद्यपि एक नियमित प्रथा के रूप में विकसित थी, किन्तु इसका विकास किस समय प्रारम्भ हुआ और यह कब से प्रचलन में पायी गयी यह एक विवादासपद पहलू है। सती प्रथा का प्रारम्भ प्राचीन काल में हुआ ऐसा माना जा सकता है, किन्तु यह एक प्रचलित मान्यता के रूप में विकसित नहीं हो पायी थी।

ऋग्वेद[2] में वर्णित मंत्र को आधार मानते कुछ इतिहासकारों का मानना है कि सती प्रथा वैदिक काल में विदित थी, किन्तु विवेचित इस मंत्र की सूक्ष्म व्याख्या करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका विधवा के पति को चिता के साथ भस्म हो जाने से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुए अल्तेकर ने लिखा है कि—नारियाँ अपने जीवित पतियों के साथ आगे आती थीं और शव पर तेल

---

1. काणे, धर्म० शा० का इति० जिल्द 1, पृ० 352
2. ऋग्वेद 10-18-7-8; इमा नारीरविधवाः सपत्नीराजनेन सर्पिषा संविशन्तु
   अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयोयोनिमग्ने।।
   उदीर्ध्य नार्यभिजीव लोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
   हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तचैव पत्युर्जनेनित्वमसिसवभूथ।।

चढ़ाती थीं, इसमें किसी विधवा के मृत पति के साथ सती हो जाने का उल्लेख नहीं है, क्योंकि इस समय उसे नियोग करने की छूट, या प्रतिज्ञाबद्ध तरीके के ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की छूट थी।[1] अथर्ववेद के एक मंत्र में विधवा को अपने मृत पति के साथ लेटने एवं अगले ही मंत्र में उसे सम्बोधित किया गया है कि नारी उठो पुनः इस संसार में आओ।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि सती प्रथा को उद्‌बोधित करने वाले कई उत्तरवैदिककालीन उदाहरण मिलते हैं, किन्तु इसका अर्थ सती से नहीं था। तैत्तरीय आरण्यक[3] में भी ऐसे वर्णन मिलते हैं, किन्तु सती के वर्णन को काणे[4] और अल्तेकर आदि इतिहासकार ने नहीं स्वीकार किया है। वे इन मंत्रों को वैदिकयुगीन उद्धरण ही नहीं मानते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों के आकलन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद का वर्णन काल्पनिक है, और इस समय सती प्रथा का प्रचलन वैदिक संहिता में ही नहीं अपितु ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में भी उल्लिखित नहीं मिलता

---

1. तैत्तरीय संहिता—विल्सन्स कलक्टेड वर्क्स, II पृ० 295-96 पर उद्धृत—

   अग्ने व्रतानां व्रतपतिरसि पत्न्यनुगमनव्रतं

   करिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्।।

2. अथर्ववेद 19-21, इयं नारी पतिलोकं वृणानां निपद्यते उपत्वा मर्त्य प्रेतम् धर्मम् पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजां द्रवणि चेहवत।।

3. तैत्तरीय आरण्यक 6-7, धमुर्हस्ता दाददाना मृतस्य श्रिमे ब्रह्मणे तेजसे बलाय अत्रैव त्वमिह वयं सुशेयवाः, विश्वा स्पृधो भिजातीर्जेयम।"

4. काणे, धर्म० शास्त्र का इति०, जिल्द 2, पृ० 615

है। सूक्ष्मतम कर्मकाण्डों की विस्तृत जानकारी देने वाले गृहसूत्र में भी इस विषय में कोई उल्लेख नहीं हैं।[1] अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि विधवा अपने मृत पति से आशीर्वाद लेकर अपना आगामी जीवन सम्पन्नता से व्यतीत करने के लिये, पुत्र व सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए सती हो जाती थी क्योंकि आर्यो द्वारा विधवा के सती होने की अपेक्षा विधवा के पुनर्विवाह पर अधिक जोर दिया गया है।[2] इसके पीछे उनकी एकमात्र धारणा भारतवर्ष में अपनी अल्पमत आबादी को बढ़ाना था।

वैदिक साहित्य की अपेक्षा ऐतिहासिक ग्रन्थों जैसे पाणिनी की अष्टाध्यायी और कौटिल्य के अर्थशास्त्र भी सती के सन्दर्भ में मौन है। एतद्युगीन बौद्ध साहित्य भी सती प्रथा से अनभिज्ञ था, क्योंकि अल्तेकर[3] का मानना है कि यदि सती प्रथा बुद्ध के समय

---

1. अल्तेकर पो० आ० वू० इन हि० सि० पृ० 118

   आपस्तम्ब गृहसूत्र शवदाह के धार्मिक अनुष्ठान का एक वर्णन आता है कि स्त्री मृत पति के चिता के पास से लौट कर अपने पति के भाई अथवा उसमें अनुयायी या वैदिक के साथ लौकर कर आती है। तैत्तरीय आरण्यक के अनुसार लौटते समय वह अपने पति सेसम्बन्धित उसकी प्रिय वस्तुएं लौटाकर लाती थी।

2. अल्तेकर वही पृ० 119

   तामुत्यापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वा उदीर्ष्व नारि अभि जीवलोकम् इति।। आपस्तम्ब गृहसूत्र IV, 2, 18

   इहं त्वाऽग्ने नमसा विधेभ सुवर्गस्य लोकस्य समेत्यै।

   जुषाणोऽद्य हविषा जातवेदा विशामित्वा सत्वतो नय मां पत्युरन्ते।"

3. अल्तेकर वही पृ० 119

प्रचलित होती तो, पशु बलि का विरोध करने वाले बुद्ध, इस बर्बरतापूर्ण कार्य का भी विरोध अवश्य करते और तत्कालीन बौद्ध अभिलेखों एवं साहित्य में भी इसका वर्णन अवश्य मिलता। धर्मसूत्रों, उदाहरणार्थ मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों में विधवा के कर्त्तव्यों के विस्तृत उल्लेख किया गया है किन्तु सती के सम्बन्ध में उल्लेख नहीं है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, ईसा की प्रथम शताब्दी तक सती की अवधारणा विकसित नहीं हो पायी थी।

सती प्रथा से सम्बन्धित कुछ उदाहरण हमें चौथी शती ई० पू० से तत्कालीन ग्रन्थों से प्राप्त होने लगते हैं। काणे के शब्दों में महाभारत यद्यपि रक्तरंजित युद्धों की गाथाओं से भरा पड़ा है, किन्तु इसमें भी सती के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं।[1] महाभारत के आदि पर्व में राजा पाण्डु के मृत्यु पर उनकी पत्नी माद्री के सती होने का वर्णन मिलता है।[2] विराटपर्व में कीचक की मृत्यु पर उसकी पत्नी सैरान्ध्री को उसके शव के साथ जलने का वर्णन मिलता है।[3] महाभारत के मौसलपर्व[4] के वर्णनानुसार वसुदेव की चार पत्नियाँ देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा उनकी चिता के साथ सती हुई और कृष्णु की मृत्यु की खबर से हस्तिनापुर में उनकी पाँच पत्नियाँ रुक्मिणी,

---

1. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द 1, पृ० 348
2. महाभारत, आदिपर्व 95/65 तत्रैनं चिताग्निस्यं माद्री समन्वारूरोह।
   आदिपर्व 125/29 राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम्।
   दग्धं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरू।।
3. विराटपर्व 23-8
4. महाभारत XVI 7-8

गन्धारी, शैव्या, हेमावती एवं जम्बावती ने अपने आप को पति की चिता के बगैर जला दिया।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में एक कपोत-कपोती का उद्धरण मिलता है, जिसमें कपोत की मृत्यु पर उसकीकपोती ने पतिव्रता धर्म का पालन करते हुए उसके साथ चिता में भस्म हो गयी।[2] रामायण में भी सती का एकमात्र उदाहरण प्राप्त होता है जिसमें वेदवती की माता के सती होने का उल्लेख आया है।[3]

रामायण एवं महाभारत के इन उद्धरणों के आलोक में यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इस समय सती प्रथा व्यवहार में प्रचलित थी, क्योंकि इस समय अनेक इसके विपरीतार्थ उद्धरण भी मिलते हैं। अल्तेकर के अनुसार महाभारत में अनेको उद्धरण ऐसे हैं, जिनमें विधवा अपने पति की मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रही। पाण्डु की दूसरी पत्नी कुन्ती, अभिमन्यु, घटोत्कच और द्रोण की पत्नियों के सती होने का कोई उल्लेख

---

1. विष्णुपुराण, 5 38-2 अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणी प्रमुखास्तु याः
   महाभारत, XVI, 7, 73-74 ऊपधुह्य हरेर्देह दिविशुस्ता हुताशनम्।।

2 महाभारत, शान्तिपर्व 248, 8-9 न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना

   पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत।

   एवं विलप्य बहुधा करुण सा सुदुःखिता।

   पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्।।

3. रामायण, 7-17-14, 33 एवमुक्ता प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसं पपात। (उत्तरकाण्ड)

नहीं है।'[1] महाभारत के स्त्रीपर्व में कौरवों की अन्त्येष्टि का वर्णन है, उनमें आयुध, वस्त्रों के जलाने का वर्णन है किन्तु उनकी किसी भी पत्नी के सती का उल्लेख नहीं हुआ है।[2]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि महाकाव्य युग में सती प्रथा धार्मिक अनुष्ठान के रूप में प्रचलित नहीं थी, इसे स्वेच्छया अपनाया जाता था और इनके विकल्प भी मौजूद थे। सती न होने वाली विधवा उसके बाद भी निर्विघ्न रूप से अपना जीवन-यापन करती थी। अर्थात् यह प्रथा राजघरानों एवं बड़े-बड़े योद्धाओं तक ही सीमित थी।

सती प्रथा के प्राचीनतम ऐतिहासिक प्रमाण कुछ यूनानी लेखकों जैसे स्ट्रैबो और डायोडोरस के लेखों से भी प्राप्त होते हैं। स्ट्रैबो के अनुसार पंजाब के कई जातियों में सती प्रथा प्रचलित थी।[3] डायोडोयरस के अनुसार हिन्दू सेनापति केटियस की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी सती हुई थी। अश्विनी अग्रवाल के अनुसार, यह प्रथा कुछ क्षत्रिय वंशों तक सीमित थी। परन्तु अन्य प्रमाणित प्रमाणों के अभाव में यूनानी ग्रीक लेखकों की बात को शत प्रतिशत स्वीकार नहीं है, क्योंकि स्ट्रैबो और डायोडोरस ईसवी संवत् के शुरुआत में सिकन्दर के सेनापतियों के लेखों के आधार पर लिखे गये उद्धरणों का वर्णन किया है। वहीं पर मेगस्थनीज कई वर्षों तक यहाँ पर रहा किन्तु उसके किसी उद्धरण में सती का उल्लेख नहीं आया है।[4]

---

1. अल्तेकर, पोजीशन आफ विमिन, पृ० 120
2. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास जिल्द I, पृ० 349
3. स्ट्रैबो : मैक्रिन्डल पृ० 69-70
4. अश्विनी अग्रवाल : 'इकोनोमिक' एसपेक्ट्स आफ सती, पृ० 58-59

सती प्रथा जो प्रथम शती ई० तक मान्यता प्राप्त करने के लिए संघर्षरत थी, गुप्तकाल तक आते-आते काफी प्रचलित हो गयी थी। वात्स्यायन, भाष, कालिदास और शूद्रक इत्यादि सती प्रथा से अवगत थे। गुप्तकाल के अन्त होते-होते अर्थात् छठी-सातवीं शताब्दी ई० तक सती प्रथा हिन्दू समाज की एक सर्वमान्य प्रथा के रूप में पूर्णतया स्थापित हो गयी थी। भारतीय इतिहास में पूर्व मध्यकाल के रूप में प्रचलित इस काल में सामंती मूल्यों का विकास हो रहा था, और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कई परिवर्तन हो रहे थे, तो दूसरी तरफ नगरों का पतन हुआ और व्यापार-वाणिज्य में कमी के साथ केन्द्रीय सत्ता का ह्रास हुआ। इस समय आंचलिक राष्ट्रीयता में वृद्धि तथा सामंत और भूस्वामी शक्ति का विकास हुआ। पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री को चल सम्पत्ति समझा गया। और इसी भावना के कारण अन्ततः सती प्रथा के विकास को गति एवं प्रसार मिला।

सती प्रथा जो, गुप्तकाल से ही प्रचलित हो गई थी, इस काल में इसे धार्मिक मान्यता प्राप्त होने लगी थी। पूर्वमध्यकालीन अनेक साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाण सती की लोकप्रियता की जानकारी देते हैं। जहाँ एक ओर वृहस्पति, पराशर आदि सती प्रथा के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं वही आठवीं शताब्दी ई० के बाद के टीकाकार जैसे अपरार्क, विज्ञानेश्वर, माधवाचार्य सती प्रथा को न केवल महिमामंडित किये हैं बल्कि यह माना है कि विधवा के सामने सती का कोई विकल्प विद्यमान नहीं था।[1] इन विद्वानों

---

1. अश्विनी अग्रवाल इकोनामिक एसपेक्ट्स आफ सती पृ० 61

साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते।

नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्त्तरि कुत्रचित् ।।

(अपरार्क की याज्ञवल्क्य पर टीका, ट, 87)

द्वारा सती के महिमा वर्णन का प्रभाव समाज पर तीव्र गति से हुआ और अल्पमात्रा में दिखलायी देने वाली, यह प्रथा जन सामान्य में, सामान्य हो गयी। अल्तेकर के अनुसार 700 से 1100 ई० में सती प्रथा का प्रचार-प्रसार उत्तर भारत में राजपूताना में एवं कश्मीर में पूर्णतया प्रचलित हो गया था।[1] राजस्थान प्रारम्भ से ही योद्धाओं एवं क्षत्रियों का गढ़ रहा है और इसीलिए यही पर सती के सर्वाधिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजस्थान में विशेषतः राजपूताना में सती का प्रचलन अधिक था और यहाँ से प्राप्त कई अभिलेखीय प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

सातवीं से बारहवीं शती ई० के मध्य सती प्रथा के विकास के लिए कई तत्वों को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। यह प्रथा विशेषतः क्षत्रियों एवं राजपूतों में प्रचलित थी, सम्भवतः इन योद्धा वर्गों ने अपनी मृत्यु के उपरांत अपनी पत्नियों को दयनीय अवस्था व असुरक्षा और मान-मर्यादा को बचाने के लिए सती प्रथा को प्रोत्साहन दिया होगा। क्योंकि राजपूताना को दसवीं शताब्दी से ही विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ रहा था। जिसके परिणामस्वरूप हमें सती के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही काश्मीर में सामंती संघर्ष और सत्ता परिवर्तन उस समय निरन्तर चल रहा था वहाँ भी सती इसी घटनाओं के परिणामस्वरूप प्रचलन में आयी।

पूर्वमध्यकाल में त्याग और बलिदान जैसे मूल्यों में वृद्धि हो रही थी। राजपूती

---

1. अल्तेकर पो० आर० वू० इन हि० सि० पृ० 126

राजघरानों व क्षत्रियों में अपने-अपने आदर्शों व देश के लिए मर मिटने का अनूठा उत्साह था। ऐसे परिवेश में एक विधवा का अपने पति के साथ सती होना भी आत्म बलिदान का सर्वोत्तम उदाहरण समझा जाता था।[1] अल्तेकर के अनुसार, एतद्वर्णित युग में सती प्रथा को समर्थन प्रदान करने के लिए 'कर्म के सिद्धान्त में संशोधन किया गया। सामान्यतः कोई भी व्यक्ति अपने नजदीकी रिश्तेदार की मृत्यु पर स्वयं को उसकी चिता के साथ जला कर उसके कर्म से नहीं जुड़ सकता क्योंकि दोनों के कर्म अलग-अलग गंतव्य तक ले जाएंगे।[2] सती कर्म के सिद्धान्त का एक अपवाद था। इस समय आत्म बलिदान का प्रभाव इतना तीव्र था, कि ऐसा समझा जाता था कि विधवा अपने पति के पापों को समाप्त कर उसे स्वर्ग तक पहुँचा सकती थी, जहाँ वह अपनी पत्नी के साथ चिरकाल तक सुखी रह सकता था।[3]

7वीं शताब्दी से सम्पत्ति के स्वामित्व तथा उसके बंटवारे व अधिकार की अवधारणा में भी विकास हुआ। इस काल की स्मृतियों जैसे नारद और वृहस्पति सम्पत्ति तथा उसके अधिकार के बिना विस्तार से वर्णन करते हैं। समकालीन स्मृतिकारों ने विधवा का भी सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकार किया है। सम्भवतः ऐसी परिस्थिति में पुरुष ने सम्पत्ति पर एकाधिकार को बनाये रखने के लिए सती प्रथा को प्रत्यक्ष या परोक्ष

---

1. अल्तेकर पो० आ० वू० इन हि० सि० पृ० 125
2. विष्णुस्मृति – 20-36 मृतोऽपि बान्धवः शक्तो नानुगन्तुं प्रियं जनम्।
   जायावर्जं हि सर्वस्य याम्यः पन्था विरुध्यते।।
3. अल्तेकर पो० आ० वू० पृ० 125

रूप से समर्थन प्रदान किया। ऐसा अनुमान इस बात से भी लगाया जाता है कि सती के कई उद्धरणों में बल या भ्रम का प्रयोग भी किया गया था।

प्रारम्भिक स्मृतिकार मनु (200 ई०–100 ई०) याज्ञवल्क्य (100 ई०–300 ई०) नारद (100 ई०–400 ई०) इत्यादि सती के सन्दर्भ में मौन हैं, क्योंकि इस समय पुनर्विवाह में नियोग प्रचलित था। विष्णु स्मृति (300-600 ई०) में पति की मृत्यु के उपरान्त पत्नी के लिए अनुगमन की बात कही गयी है, लेकिन इसे धार्मिक कर्तव्य कहा गया है[1], विष्णु स्मृति के अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा या तो ब्रह्मचारी रहती थी या फिर चिता में चढ़ जाती थी।[2]

विष्णु स्मृति पर टिप्पणी करते हुए अल्तेकर ने लिखा है कि विष्णु स्वयं इसका समर्थन नहीं करते थे, उन्होंने इसका मात्र जिक्र किया है।[3] पूर्वमध्यकालीन वृहस्पति (300 ई०–500 ई०), पराशर (600 ई०–900 ई०) और अग्निपुराण (600 ई०–900 ई०) सती को विधवा के लिए आदर्श नहीं मानते थे। इसे एक दूसरे विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सती की अपेक्षा ब्रह्मचर्य जीवन विधवा के लिए ज्यादा श्रेयस्कर है। वृहस्पति स्मृति (XXV-II) के अनुसार पत्नी पति की अर्द्धांगिनी थी और उसके अच्छे और बुरे कर्मों की बराबर की हिस्सेदार थी। पति की मृत्यु के उपरान्त

---

1 स्क्रेड बुक ऑव द इस्ट सीरीज, वाल्यूम–VII पृष्ठ 81

2 विष्णु धर्मसूत्र 25-14; वसिष्ठ 5.83

मृते भर्तरि ब्रह्मचर्य तदन्वारोहणं वा।। याज्ञवल्क्य के 1186वीं व्याख्या में मिताक्षरा द्वारा उद्धृत।।

3. अल्तेकर पो० आ० पू० पृ० 122

वह उसके साथ सती हो जाए या जीवित रहकर ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करे दोनों ही दशा में वह अपने पति का कल्याण करती थी।[1] अग्निपुराण में भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है।[2]

आठवीं शताब्दी ईस्वी और उसके बाद के स्मृतिकार सती प्रथा के प्रबल समर्थक थे। वृद्धहारीत के अनुसार सती विधवा का परम धर्म ही नहीं अपितु एकमात्र धर्म था।[3] अपरार्क, अंगिरस को उद्धृत करते हुए इसी मत का समर्थन किया है।[4] सती को धर्म तथा कर्म के सिद्धान्त से जोड़ते हुए मिताक्षरा के अनुसार जो स्त्री अपने पति की मृत्यु पर उसका गमन करेगी वह न केवल अपना अपितु अपने माता-पिता तथा पति तीनों के कुल को पवित्र करेगी।[5]

इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में सती न होने वाली स्त्री को सामाजिक बहिष्कार व तिरस्कार का भी सामना करना पड़ता था। पराशर स्मृति के अनुसार मनुष्य के शरीर पर पाये जाने वाले साढ़े तीन करोड़ रोएं के बराबर, सती स्त्री अपने पति

---

1. से.बु.ई. वाल्यूम XXXII 369; वृहस्पति स्मृति, 483-84
2. अग्निपुराण 221, 23 मंत्राग्नि या विशेन्नारी सापि स्वर्गमवाप्नुयात्।।
3. वृद्धहारीत 201 ब्रह्मघ्नं वा सुरापं वा कृतघ्नं वापि मानवम्।
   यमादाय मृता नारी सा बर्तारि पुनाति हि।।
5. याज्ञवल्क्य टीका अपरार्क I 87साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रपतनादृते।
   नान्यो धमोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित।।
6. मिताक्षरा याज्ञवल्क्य 186 तत्र सा भर्तृपरमा, स्तूयमानाऽप्सरो गणैः।
   क्रीडते पतिना सार्घ यावदिन्द्रोचचतुर्दशा।।

के साथ स्वर्ग में निवास करेगा।[1] जिस प्रकार सपेरा बिल से साँप को निकालता है उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति का उद्धार करते हुए उसके साथ आनन्दपूर्वक निवास करेगी।[2] व्यास स्मृति में विधवा स्त्री के लिए दो विकल्पों सती एवं ब्रह्मचर्य में से सती को श्रेष्ठ बताया गया है।[3] दक्ष स्मृति[4] में भी व्यास, पराशर, शंख एवं अंगिरस स्मृति के समान ही विधवा के सती होने को श्रेयस्कर बताते हुए लिखा गया है कि ऐसी स्त्री सदाचारिणी मानी जाती थी, तथा स्वर्ग में देवताओं द्वारा भी सम्मानित होती थी। आत्रि स्मृति में भी सती की प्रशंसा की गयी है एवं उससे विमुख होने वाली के लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है।[5]

लक्ष्मीधर ने अंगिरा को उद्धृत करते हुए लिखा है कि पति के साथ सती होने

---

1. पराशर स्मृति 4-32 — तिस्रः कोटयर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे।
   तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति।।
2. पराशर IV 33. — व्यालग्राही यथा व्यालं ब्लादुद्धरते बिलात्।
   एवं स्त्री पतिमुद्घृत्य तेनैव सह मोदते।।
3. व्यास स्मृति 2.52; 5.53
   मृते भर्तरि मांदाय ब्राह्मणी वहिमाबिशेत्।
   जीवन्ती व्येत्यकेशा तपशा शेक्योत्युः।।
4. दक्ष स्मृति 4.19-20 — मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम्।
   सा भवेत शुभाचार स्वर्गलोके महीयते।।
5. अत्रि स्मृति श्लोक 209, चिता भ्रष्टा तु या नारी ऋतुभ्रष्टा च व्याधितः।
   प्राजापत्येन शुध्यते ब्राह्मणान् भोजयेदशः।।

वाली स्त्री कीर्ति को प्राप्त करती हुई, अरुन्धती के समान स्वर्गलोक में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगी।[1] कृत्यकल्पतरु के एक उद्धरण में सती प्रथा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पति की मृत्यु से उत्पन्न वियोग का एकमात्र शमन सती ही है। परन्तु यदि पति कही देशान्तर में मरे तो उसकी विधवा को उसकी पादुकाओं के साथ सती हो जाना चाहिए।[2] इस प्रकार एक सती अपने पति की चिता के साथ-साथ भस्म होकर उसके सभी पापों का शमन करती हुई उसे स्वर्ग तक ले जाती थी। इसी सन्दर्भ में पराशर माधवीय के अनुसार पत्नि का जीवन निरपेक्ष होती थी, अतः वह अपने आप को जला ले या पति के साथ जल मरे दोनों ही तरह वह स्वर्ग में अपना व अपने पति का स्थान सुरक्षित करा लेती थी।[3] मिताक्षरा में सती को वेदों के अनुरूप मानते हुए सती प्रथा

---

1 याज्ञवल्क्य 186 मृते भर्तरि या नारी समारोहेदुताशनम्।
सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गलोके महीपते।।

2. ब्रह्मपुराण का उद्धरण, कृत्यकल्पतरु पृ० 634
मृते भर्तरिसत्स्त्रीणां न चाला विद्यते गतिः
नान्यद्भर्तृ वियोगाग्निदाहस्य शमनं क्वचित्।।
देशान्तरमृते तस्मिन् साध्वी तत्पादुकाद्वयम्।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेच्चजातवेदसम्।।

3. मिताक्षरा-याज्ञ० 1/86
माधव टीका पराशर स्मृति IV 33
अवमत्य तु याः पूर्वं पतिं दुष्टेन चेतसा।
वर्तन्ते याश्च सततं भर्तृणां प्रतिकूलतः।।
भर्त्रानुमरणं काले याःकुर्वन्ति तथाविद्याः।।
कामात्क्रोधाद्भयान्मोहात्सर्वाः पूता भवन्ति ह।।

अर्थात् अवरोहण को ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक की स्त्रियों के लिए समान रूप से श्रेयस्कर माना गया है, किन्तु गर्भवती एवं छोटे बच्चे जिनके पास है ऐसी स्त्रियों के लिए सती होने पर रोक लगाया गया है।[1]

इस प्रकार 700 से 1200 ई० के मध्य लिखित स्मृतियों के आधार पर हम देखते हैं कि सती प्रथा उत्तर भारत में एक प्रचलित प्रथा के रूप में विकसित हो गयी थी। स्मृति ग्रन्थों एवं धार्मिक ग्रन्थों से सती के प्रचलन के विषय में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इस समय तक सती आर्थिक एवं धार्मिकता से पूर्णतः जुड़ चुकी थी और समाज ने उसे एक स्वरूप प्रदान कर दिया था।

पुराण जिनकी रचना चौथी शती ई० से आलोच्य युग के अन्त तक मानी जाती है, में भी सती से सम्बन्धित कुछ उद्धरण मिलते हैं। वायु पुराण (400-600 ई०) में राजा बाहु की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी द्वारा सती होने के लिए उद्धृत होने का उल्लेख मिलता है, किन्तु गर्भवती होने के कारण उसे सती होने की अनुमति नहीं दी गयी,[2] क्योंकि शास्त्रों के अनुसार गर्भवती स्त्री के सती होने से पाप होता है। ऐसे ही वर्णनों का उल्लेख विष्णु[3] (300-500 ई०) तथा ब्रह्माण्ड पुराणों[4] (400-600 ई०) में भी

---

1. मिताक्षरा, याज्ञ., 1/86
   अपं च सर्वासां स्त्रीणामगर्भिणीनामबालापत्या नामाचाण्डालं साधारणो धर्मः। भर्तारंयानुगच्छतीत्य विशेषोपादानात्। मदनपारिजात पृ० 186 एवं स्मृति मुक्ताफल (संस्कार, पृ० 162)
2. वायु पुराण 88, 32
3. विष्णु पुराण 5, 3.33
3. ब्रह्माण्ड पुराण, 3, 36, 131; स्टडीज इन द पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स 1, पृ० 45-57 हाजरा ने उक्त पुराण का समय 4-6 शती ई० माना है।

उल्लेख मिलता है। विष्णु पुराण में श्रीकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी रुक्मिणी के सती होने का वर्णन मिलता है। पुराण में बलराम की पत्नी रेवती, उग्रसेन व वसुदेव की पत्नी देवकी तथा रोहिणी के भी सती होने का उल्लेख मिलता है।[1] ब्रह्माण्ड पुराण (400-600 ई०) के अनुसार विधवाएं भावी अपमान के भय से सती होने को श्रेयस्कर समझती थी।[2] मत्स्य पुराण[3] में कामदेव की मृत्योपरान्त रति द्वारा सती होने के लिए उद्धत होने पर शंकर भगवान द्वारा उसे रोके जाने का वर्णन मिलता है; जिससे तत्कालीन समाज में सती के प्रचलन की जानकारी होती है।

ब्रह्मपुराण (10-12वीं शती ई०) में सती का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि यदि विदेश में पति की मृत्यु हो जाय, तो उसकी पत्नी को उसकी चरण पादुका के साथ सती हो जाना चाहिए।[4] बृहन्नारदीय पुराण (10वीं शती) में भी सती प्रथा के उक्त सन्दर्भ में अनेक प्रसंग मिलते हैं।

पुराणों के उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि धार्मिक साहित्यों में भी सती के उद्धरण पर्याप्त मात्रा में उल्लिखित मिलते हैं। पुराणों में विधवाओं से सम्बन्धित लगभग समस्त रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं का उल्लेख मिलता है। गुप्तोत्तर काल से ही

---

1 विष्णु पुराण 1, 38, 3, 5, 38, 4

2. ब्रह्माण्ड III, 30, 35

3. काणे मत्स्य पुराण की तिथि 2-4 शती ई० मानते हैं। धर्मशास्त्र का इति० भाग 4, पृ० 41, मत्स्य पुराण 154, 274

4. हाजरा स्टडीज इन द० पौ० रि आ० हि० रा० 1, 145-57 ने पुराण की तिथि 10-12 शती ई. माना है।

विधवाओं द्वारा पुनर्भू के साथ सती का उल्लेख भी प्राप्त होने लगता है और धीरे-धीरे पूर्व मध्यकाल तक आते-आते पौराणिक साहित्य में विधवा पुनर्विवाह को कलिवर्ज्य शीर्षक[1] के अन्तर्गत स्थान दिया गया तथा सती प्रथा की महत्ता धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

उपर्युक्त धार्मिक ग्रन्थों में जहाँ सती प्रथा का वर्णन मिलता है वहीं कुछ ऐसी परिस्थितियों का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें शास्त्रकारों द्वारा विधवा के सती होने को निन्दनीय ठहराया है। विधवी के गर्भवती होने या संतानों के शैशवावस्था में होने वाली विधवा के सती होने का शास्त्रकारों द्वारा विरोध किया गया है।[2] शास्त्रकारों के अनुसार सम्भवतः गर्भावस्था में सती होने से भ्रूण हत्या की भागीदारी बनती थी।

अन्य रचनाओं से भी हमें आलोच्य युग में सती प्रथा के प्रचलन की जानकारी मिलती है। कालिदास (5-6वीं शती) के कुमारसम्भवम् नामक ग्रन्थ में एक स्थल पर, शिव के द्वारा कामदेव को भस्म किये जाने पर, रति के सती होने का उद्धरण मिलता है, जिसे देवदासी की सहायता से बचा लिया गया था।[3] वात्स्यायन (5-6वीं ई०) द्वारा कामसूत्र में एकस्थल पर लिखा गया है कि तत्कालीन समय में वेश्यायें अपने प्रेमियों का दिल जीतने के लिए उनकी मृत्योपरान्त सती होने का झूठा आश्वासन देती थी।[4]

---

1. आदि पुराण (पराशर माधवीय 4, 30 पर उद्धृत)
2. नारद स्मृति (पराशर माधवीय बाग 1, पृ० 58 में उद्धृत)
3. कुमारसंभव, 4, 10, 33, 35, 36, 45

   परलोक नव प्रवासिन प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव।

   विधिना जन एष वंचितस्त्वद्धीन ततु देहिना सुखं।।
4. वात्स्यायन, कामसूत्र 6, 2, 53

शूद्रक (5-6वीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'मृच्छकटिकम्' में चारुदत्त की पत्नी के सती होने का उल्लेख किया है।[1] इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन, वाराहमिहिर की वृहत्संहिता एवं वृहज्जातक नामक ज्योतिष ग्रन्थों में भी विधवाओं के लिए वर्णित विधि-विधानों में सती प्रथा का उल्लेख भी मिलता है।[2]

सती प्रथा पूर्वमध्यकाल से पूर्णतः प्रचलन में आ चुकी थी। तत्कालीन अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में इसके उल्लेख स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। हर्ष (606-42 ई०) के नाटक प्रियदर्शिका में एक स्थल पर विंध्यकेतु के युद्ध में मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नियों द्वारा अनुगमन का उल्लेख मिलता है।[3] हर्ष द्वारा रचित एक अन्य नाटक नागानंद में जीमूतवाहन के मृत्योपरान्त उसकी पत्नी माल्यवती के सती होने का प्रमाण मिलता है।[4] छठवीं-सातवीं शती ई० में दण्डी द्वारा रचित ग्रन्थ दशकुमारचरित में रानी वसुमती के सती होने का उल्लेख मिलता है।[5] दण्डी के मतानुसार, पति की मृत्योपरान्त, सतीव्रत धर्म का पालन करना स्त्रियों का पवित्र कर्तव्य माना जाता था और इसी धर्म के

---

1. मृच्छकटिकम्, अंक 10
2. वृहत्संहिता-स्त्री प्रशंसा अध्याय श्लोक 16, 84, 24, 16

   पुरुषश्चटुलानि व्याभिनीनां कुरुते। यानि रहो न तानि पश्चात्।

   सुकृतज्ञतपाडना गतासूनवगुप्त। प्रविशन्ति सप्त जिह्ववम्।।
3. प्रियदर्शिका, भाग 1
4. नागानन्द, अंक 5
5. दशकुमारचरित, पृ० 7

पालनार्थ जयपाल की माता सती हुई थी।[1] महाकवि माघ (6वीं शती ई०) अपने ग्रन्थ शिशुपालवध में लिखते हैं कि रानियाँ अपने पति के युद्ध में पराजित होने के पूर्व ही सती होने की तैयारियाँ कर लेती थीं।[2]

बाणभट्ट ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ हर्षचरित में हर्षवर्धन की माता यशोवती द्वारा पति को बीमारी के कारण उनके ठीक न होने की अवस्था में, उनकी मृत्यु के पूर्व सती होने का उल्लेख किया है।[3] हर्षचरित में एक अन्य स्थळ पर हर्ष की बहन राज्यश्री द्वारा पति वियोग में सती होने का उद्धरण मिलता है, जिसे समय पर पहुँच कर हर्षवर्धन द्वारा रोक लिया गया था। इस प्रकार बाण द्वारा प्रस्तुत प्रसंगों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजवंशों में ब्रह्मचर्य जीवन की अपेक्षा सती होने को श्रेयस्कर समझा जाता था। भट्ट नारायण (725 ई०) ने वेणीसंहार में सती को क्षत्रिय धर्म के रूप में वर्णित करते हुए लिखा है कि नायक के युद्ध में मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी एवं माता के सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[4] 8वीं सदी के दामोदरगुप्त ने अपने ग्रन्थ में उल्लेख

---

1. दशकुमार चरित, पृ० 135
2. शिशुपाल वध, 15, 93
3. हर्षचरित, अंक 5, पृ० 292, 293

   देव्यपि यशोमती परिवर्ज्य समाधाय च शिरसि निगर्त्य चरणाभ्यामेव चान्तः पुरात्योरा ग्रन्थ प्रति शब्द निर्भरा पिरूपरूध्यमानवे दिग्धिः सरस्वती तीरे ययौ। त्राप स्त्रीस्वभाव कातर दृष्टिपातैः प्रविसिवरगुञ्जपुष्पेरिवार्चयित्वा भगवत भानुपन्वमिव मूर्तिरुदवी चित्रभानुं प्राणियत।'
4. वेणीसंहार, अध्याय 4, हा अतिकरुणं वर्तते। एषा वीरमाता समरविनिहतं पुत्रं श्रुत्वा रक्तांशुकनिर सनया समग्रभूषणया वहन्नासहानुम्रियते।

किया है कि पत्नियों के अतिरिक्त गणिकाएं भी अपने प्रेमी की मृत्योपरान्त सती मार्ग का अनुसरण करती थी।[1]

यद्यपि समकालीन जैन ग्रंथों से सती प्रथा का अधिक उद्धरण नहीं मिलते हैं, और इस समुदाय के लोग सती को श्रेयस्कर भी नहीं समझते थे। तथापि कतिपय जैन ग्रन्थों से उक्त प्रथा के तत्कालीन समाज में प्रचलन के कुछ उद्धरण अवश्य मिलते हैं। सातवी सदी के जैन ग्रन्थ 'निशीथ चूर्णी' में एक कथा का उद्धरण है, जिसके अनुसार एक राजा द्वारा पांच सौ व्यापारियों केराजकीय कर न देने के कारण मृत्यु दण्ड का आदेश दिया गया था, इन व्यापारियों की मृत्योपरान्त उनकी पत्नियों ने भी अनुमरण की इच्छा का उल्लेख किया गया है।[2]

आठवीं शती ई० में हरिभद्रसूरि ने 'समराइच्चकहा' नामक ग्रन्थ में विधवाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि विधवाओं का जीवन अत्यन्त कष्टमय व यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा वे सती हो जाना अधिक उचित समझती थी।[3] आठवीं शती ई० के ही एक अन्य ग्रन्थ 'कुवलममाला' में सन्ध्या की तुलना पति का अनुगमन करने वाली स्त्री से किया गया है।[4]

---

1. कुट्टनीमतम् श्लोक सं० 559-611
2. निशीथ चूर्णी, 4 पृ० 14, वृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, पृ० 208
3. समराइच्चकहा, 7, पृ० 664-66; 6, पृ० 505, 662, 8 पृ० 806
4. कुवलयमाला 82, 20

'कुल-पालिय वसंझा अणुमरह समुछन्पज्झय्यि।'

सती प्रता का प्रचलन राजपूत कालीन ग्रन्थों से भी मिलते हैं। तत्कालीन योद्धावर्ग में पति के मृत्योपरान्त स्त्रियां शुद्धता व प्रतिष्ठा के कारण सात्त्विक जीवन यापन की अपेक्षा सती होने को अधिक श्रेयस्कर समझती थी। तत्कालीन ग्रन्थ 'रासमाला' से 11-12वीं शती ई० के गुजरात तथा राजस्थान के आहिल्यवाड़ा के चालुक्य या सोलंकी राजपूत स्त्रियों द्वारा सती के अनुसरण का उल्लेख किया गया है। त्रिपुरी के कलचुरी वंश की रानियों के सती होने के भी कतिपय उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] राजशेखर (880-920 ई०) के ग्रन्थ 'कर्पूरमंजरी' से उत्तर भारत के राजपूतों में सती प्रता के विशेष प्रचलन का उल्लेख मिलता है।[2] समकालीन टीकाकार अभयदेव द्वारा अपनी टीका में अपने पति के साथ सती होने वाली चालुक्य कन्याओं की प्रशंसा की गयी है।[3]

राजपूताना के अतिरिक्त पूर्वमध्यकाल में दसवीं से ग्यारहवीं शती ई० के मध्य कश्मीर में भी सती प्रथा अपने चरमोत्कर्ष पर मौजूद थी। जिसकी पुष्टि तत्कालीन लौकिक साक्ष्यों से भी होती है। इनमें कथासरित्सागर एवं राजतरंगिणी का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इन दोनों ग्रन्थों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एवं समाज में प्रचलित रीति-रिवाजों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कथासरितसागर (11वीं शती ई०) के पांचवें तरंग में उपकोशा का अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने का वर्णन

---

1. शर्मा, आर० के० द कल्चुरिस एण्ड दियर टाइम्स, पृ० 174
2. कर्पूरमंजरी, प्रस्तावना पृ० 10; ए० इ० जिल्द 2, पृ० 4 श्लोक 12
3. स्थानांग टीका 4, पृ० 199, जगदीश चन्द्र जैन द्वारा प्राकृतक साहित्य का इति० पृ० 267 पर उद्धृत। 'अहो चौलुक्यपुत्रीणां साहसं जगतोऽधिकम्। पत्युमृत्यौ विशन्त्यग्नौ या प्रेमरहिता अपि।।'

किया गया है।[1] उक्त सन्दर्भ में एक अन्य स्थल पर राजा सहस्रानीक के पिता, शतानीक का इन्द्र के सहायतार्थ लड़े गये युद्ध में वीरगति प्राप्त करने के पश्चात्, उनकी पत्नी के अनुरण का उल्लेख किया गया है।[2]

प्रस्तुत ग्रन्थ में ही एक अन्य स्थल पर चन्द्र वैश्य एवं शिलाहर की कथा का वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार अपने पति की मृत्यु हो जाने पर धनुश्री का परिजनों के द्वारा मना करने पर भी सती होने का वर्णन मिलता है। इसी सन्दर्भ में ही एक ब्राह्मणी विधवा पिंगलिका के व उसके सास के सती होने का उल्लेख भी मिलता है।[3] अतः इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक काल में विधवा के सती होने के पीछे कोई धार्मिक दबाव न था, किन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे यह बलात हो गयी।

ऐतिहासिक ग्रन्थों से हमें कश्मीर में हुई अनेकों सतियों के विषय में आवश्यक जानकारियाँ मिलती हैं। इस सन्दर्भ में हमें तद्‌युगीन लेखक कल्हण की राजतरंगिणी से महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। जिसमें तत्कालीन कश्मीर में हुये सामाजिक परिवर्तन व सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख किया गया है। राजतरंगिणी के अवलोकन से यह तथ्य उभर कर सामने आया है कि कश्मीर के राजपरिवारों एवं उच्चवर्गीय

---

1. कथा सरितसागर 1, 5, 100

   राजा हतं निशम्य (त्वामुपकोशाग्निसाद वपुः। अकरोद्य मातुस्ते शुचा हृदयमस्फुटत।।

2. वही 1,1,17 मातृल्यानीतदेहं च देवी तं नृपपन्वगात।

   राजलक्ष्मीश्च तत्पुत्रं सहस्त्रनीक माश्रयते।।

3. वही, 2 10, 64, 65

सामंती परिवारों में सती प्रथा एक अत्यधिक मान्य एवं प्रतिष्ठा के रूप में जुड़ी हुई थी। इस समय सती को पूजनीय रूप में देखा जाता था और जिस राजा के साथ जितनी स्त्रियाँ सती होती थी, वह उसके प्रतिष्ठा का सूचक समझा जाता था। तत्कालीन शोध से मम्बन्धित परिप्रेक्ष्य में काश्मीर में हुई सतियों का संक्षिप्त साक्ष्य अधो:वर्णित दिया जा रहा है।

(1) कश्मीर के इतिहास में रानी का राजा के साथ अथवा पत्नी का पति के साथ सती होने का सर्वप्रथम उदाहरण द्वितीय तरंग के 56वें श्लोक में मिलता है।[1] उक्त श्लोक के अनुसार, राजा तुंजीन की मृत्योपरान्त, छत्तीस वर्षों से उनका साथ देने वाली उनकी पतिव्रता पत्नी वाक्यपुष्टा देवी के सती होने का उल्लेख मिलता है।[2] उसके सती होने वाला स्थान वाक्पुष्टाथ्वी[3] नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ।

(2) शंकरवर्मन के मर जाने पर उनकी प्रधान रानी सुरेन्द्रवती के साथ तीन अन्य रानियों के अन्वारोहण करने का उल्लेख किया गया है।[4]

(3) राजा यशस्कर की मृत्योपरान्त उनकी बहुत सी पत्नियों के होते हुए मात्र देवी

---

1. राज० 2, 56

'वर्षैः षट्त्रिंशता शान्ते पत्यौ विरहजो ज्वरः।

तत्यजे ज्वलनज्वालनलिनप्रच्छदे तथा।।

2. राज० पर रघुनाथ सिंह की टीका पृ० 402

3. राज; 2, 57

4. राज; V, 226 तिस्रः सुरेन्द्रवत्याद्या राज्ञो राजानमन्वयुः।

वेलाक्त्तिः कृतज्ञश्च जयसिंहाद्वयः कृती।।

का उनके शव के साथ सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(4) राजा क्षेमगुप्त के मृत हो जाने पर सौतनों चन्द्रलेखा इत्यादि को पति के साथ सती होते हुए देखकर रानी दिद्दा द्वारा ईर्ष्यावश पति के अनुगमन किये जाने का वर्णन मिलता है।[2] जिसे उनके उदार मंत्री नरवाहन द्वारा बचा लिया गया था।

(5) राजा अनन्तदेव की मृत्यु के पश्चात् उनकी पवित्रशील पतिव्रता पत्नी सूर्यमती द्वारा खुशी-खुशी चिता की अग्नि में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है।[3]

(6) राजा अनन्तदेव की रानी सूर्यमती के सती होने के पश्चात् अन्य दास दासियों के भी उसके साथ चिता में जलने का उल्लेख मिलता है।[4]

(7) राजा कलश की मृत्योपरान्त मम्मनिका इत्यादि उनकी सात विवाहित पत्नियों एवं जयनती नामक रखैल के उनके चिता के साथ सती होने का उल्लेख किया गया है।[5] वहीं पर उनकी कय्या नामक प्रेमिका के सती न होने पर समस्त स्त्री जाति

---

1. राज; 6, 107 — अवरोधवधूमध्यात्सती तं पतिमन्वगात्।
   एका त्रैलोक्यदेव्येव स्वप्रभेव विरोचनम्।।
2. वही, 6, 195-96 — पत्यौ मृते सपत्नीयां दृष्टानुमरणं ततः।
   दम्भेना नुमुमूर्षन्तीमनुमेने स ता द्रुतम्।।
3. वही, 7, 478 — एवं विशुद्धशीलत्वं संप्रकाश्य श्रुचिस्मिता।
   कर्णीरथाददाज्झम्पां ज्वलिते जातवेदसि।।
4. वही, 7, 481 — गङ्गधरष्ट क्किबुद्धो युग्यवाहश्च दण्डकः।
   तावुद्दानेमिका वल्गा चेति दास्यस्त दान्वयुः।।
5. 7, 724-25 — 'सप्त मम्मनिकामुख्या देव्यः परिणयाहृताः।
   अवरुद्धापि जयमत्यभिधाना तमन्वगुः।।
   प्रसादवित्तया तस्य पुनः कय्याभिधानया।
   अवरुद्धिकया कृत्स्ना स्त्रीजातिरपवित्रता।।

को कलंकित करने का उल्लेख मिलता है।

(8) स्वामिभक्त सेनापति चन्द्रराज की माता गज्जा के सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(9) इसी तरह मल्लराज के अन्तःपुर में छः स्त्रियों के सती होने का उल्लेख मिलता है।[2]

(10) उक्त प्रसंग के अन्तर्गत ही राजा उच्चल और सुस्सल की माता नन्दा के सती होने का उल्लेख मिलता है।[3] इसी सन्दर्भ में आगे उल्लिखित किया गया है कि रानी ने सती होने से पूर्व अपने पुत्रों से उनके पिता के हत्यारों से बदला लेने का संकल्प लिया था, उसके पश्चात् वो अग्निकुण्ड में प्रविष्ट हो गयी थी।[4]

(11) राजा उच्चल की मृत्यु के पश्चात उसकी रानी बिज्जला के उसकी चिता पर चढ़कर सती होने का उल्लेख मिलता है।[5]

---

1. राज., 7, 1380 – स्वामिकृत्योद्यमस्तुत्यसूतिषु स्त्रीषु पूज्यताम्।
   गज्जातज्जननी स्वस्य नमस्यन्त्यविशिच्चिताम्।।
2. वही., 7, 1488 सर्वोपभोगभागिन्यस्तदन्तःपुरयोषिताम्।
   परिवाराङ्गना वह्नौ षट चात्रैव विपेदिरे।।
3. वही 7, 1493-94 क्रियतां दिवसैरेव पुत्रौ शत्रोः पितृद्विषः।
   जामदग्न्यायितं वंशे शप्त्वेति नृपतिं सती।।
   अन्निषण्णेव दीप्ताग्नौ गृहे स्वं निरदाहयत्।
   प्रनृत्यन्तीभिरालीभिरिव ज्वालाभिरावृता।।"
4. वही 7, 1490-92
5. वही, 8, 367 - युग्याधिरूढ़ा सा यान्ती यावन्मार्गे व्यलम्बत।
   अग्रतो बिज्जला तावन्निर्गत्य प्राविशच्चिताम्।।

(12) राजा सुस्सल की मृत्योपरान्त उनकी चार पत्नियों राजा चम्पक की पुत्री महारानी देवलेखा, तरललेखा, बल्लालपुर की राजकुमारी उज्जला एवं गम्म की पुत्री राजलक्ष्मी के चिताग्नि में कूदकर सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(9) मल्लवंशी राजा व्यड्डमङ्गल की हर्ष के साथ युद्ध में मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी द्वारा सूचना मिलने पर घर में अनुमरण व्रत के पालन करने की सूचना मिलती है।[2]

(10) मल्लराज की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी कुमुदलेखा द्वारा घर में अग्नि में प्रविष्ट कराने अर्थात् सती होने का वर्णन मिलता है।[3]

(11) इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर मल्लराज की पुत्र वधुओं आसमती और सहजा द्वारा जो कल्हण और सल्हण की पत्नियाँ थीं के भी अनुमरण का उल्लेख मिलता है।[4]

---

1. राज० 8, 1442-44 — चक्रिरे स्कन्दभवनोपान्ते। देहांश्चिताग्निसात्।
ते सत्वरं ततस्तासामदूरे राजसद्मनः।। 1442
2. वही, 7, 1468 — मातुलस्यात्मजा मल्लावत्ययोस्तस्य गेहिनी।
श्रश्वा समं स्ववसतीरादीप्य दहने मृता।।
3. वही, 7, 1486 - — राज्ञी कुमुदलेखाख्या मल्लस्याला च वल्लभा।
गृहेप्व जुहुतां वीतिहोत्रे गत्राणि संभृते।।
4. वही, 7, 1487 — राजावकल्यज्ञोः पत्न्यो बाले सल्हणरल्हयोः।
स्नुषे मल्लस्यासमती सहजा चाग्निसाद्गते।।

(12) कन्दर्पसिंह की मृत्यु होने पर उनकी पत्नी द्वारा चिता के साथ सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(13) राजा उत्कर्ष के आत्महत्या करने के पश्चात् उनकी सहजा नामक दासी, जिसे उन्होंने पत्नी बना लिया था, के चिता के साथ सती[2] होने एवं अन्य पत्नियों द्वारा मृत्योपरान्त अनुकरण करने का उल्लेख मिलता है।

एक स्थल पर सती का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि पति के प्रति उत्कृष्ट प्रेमाभाव के कारण द्वापर कोष्ठक की मानवती पत्नी पति की मृत्यु के पश्चात् स्वजनों द्वारा समझाने व बन्दी बनाये जाने के उपरान्त भी सती हुई।[3]

कल्हण द्वारा राजतरंगिणी में उल्लिखित उपर्युक्त प्रसंग के आलोक में यह ज्ञात होता है कि, तत्कालीन उत्तर भारत के काश्मीर प्रान्त में सती प्रथा का इतना अधिक प्रचलन था कि राजा या योद्धावर्ग के किसी व्यक्ति के मरने के पश्चात् उसके साथ उसकी पत्नी सती अवश्य होती थी। इस प्रथा की महत्ता इतनी थी कि पत्नी को मात्र

---

1. राजा., 7, 102-103 भार्या कन्दर्ब सिंहस्य क्षेमा परमचर्षणी। नागेन संगमं चक्रेरक्षसेवासितक्षपा।। प्रशान्ते तुमुले बिम्बा चतुर्भिदिवसैः सती। तुङ्गस्नुषा सुता शाहेः प्रविवेश हुताशनम्।।
2. वही, 7, 861-62 चतुर्विंशाब्ददेशीयो दिनद्वाविंशतौ नृपः। मृतस्तिष्ठन्निशामेकां प्रातः सोऽक्रियताग्निसात्।। तस्यावरोधलोलाक्ष्यो लोहराद्रिस्थिता अपि। कुशानुवत्मर्ना कश्चित्पदवी द्रुतमन्वयुः।
3. वही 8, 2335- जीवन्भूयोऽपि लभ्यते त्वया स पतिरित्यसौ बन्धूनामवधीर्योक्तिं प्राविशद्यद्धुताशनम्।।

यह आभास हो जाने पर की, अब उसका अपने पति से पुनर्मिलन नहीं हो सकता है, तो भी वह सती हो जाया करती थी।[1] उक्त प्रसंग से समाज के जड़ तक सती के प्रचलन का आभास होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रसंग मिलते हैं, जिनमें राजपरिवार की विधवा रानियों द्वारा, इस शारीरिक कष्ट से अपने आप को बचाने के लिए एवं राजसत्ता या कामवासना से अपने विश्वासपात्र मंत्री तथा संबंधियों को धन का प्रलोभन देकर सती होने से बच जाती थी। इस सन्दर्भ में रानी दिद्दा एवं रानी जयमती का उल्लेख किया जा सकता है।[2]

कल्हण की राजतरंगिणी से कश्मीर में मृत व्यक्ति के साथ उसकी पत्नी के अतिरिक्त, भावातिरेक में पुरुष सम्बन्धियों, बहनों, माताओं, दास-दासियों, अमात्यों एवं सैनिकों के भी सहमरण की जानकारियाँ भी मिलती हैं। जिनमें दिल्हभट्टार की मृत्यु के पश्चात् उसकी बहन के प्रसन्नतापूर्वक अग्नि में प्रवेश करने का उल्लेख मिलता है।[3] चन्द्रराज की मृत्यु के पश्चात् उसकी माता गज्जा द्वारा गौरव प्रदर्शित करते हुए चिता में जलने का उल्लेख मिलता है।[4] राजा शंकरवर्मा की मृत्योपरान्त उसकी तीन रानियों के साथ ही राजसेवक, लाड एवं वज्रसार ने सहमरण किया था।[5] शासक तुंग के मारे

---

1. राज. 8, 3235
2. वही., 6, पृ० 194-96, 8, 363; अल्तेकर, पो० वू० हि० सि० पृ० 127
3. वही., 8, 448 'तं या निनिन्दानिष्पन्न पौरुषं तत्स्वसुस्तदा।
   तस्या वह्निप्रवेशेन सिद्धं मानवतीप्रतम्।।
4. वही, 7, 1380 'स्वामिकृत्योद्यमस्तुत्यसूतिषु स्त्रीषु पूज्यताम।
   गज्जा तज्जननीस्वस्य नमस्यन्त्यविशच्चिताम्।।'
5. वही, 5, 227 द्वौ लाडो वज्रसारश्च तं मृत्यावनुजग्मतुः।
   इति षड्भिश्चितारूढैः साहसाक्रियाताग्निसात्।।'

जाने पर उसके कुछ सैनिकों ने भी स्वदेह त्याग दिया था।[1] इसी प्रकार राजा अनन्तदेव की चिता के साथ, विधवा रानी सूर्यमती के अतिरिक्त गंगाधर टक्किबुद्ध तथा दण्डक नामक तीन सेवक और उद्दा, नोनिका एवं वल्गा नामक तीन दासियों के भी चिताग्नि में प्रवेश करने की जानकारी प्राप्त होती है।[2]

अतः इस प्रकार की जानकारी देने वाली राजतरंगिणी एकमात्र ऐसा ऐतिहासिक ग्रन्थ है, जिससे तत्कालीन समाज में प्रचलित सती प्रथा पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

अभिलेखों में सती

ऐतिहासिक एवं धर्मशास्त्रीय साक्ष्यों के अतिरिक्त सती प्रथा के प्रामाणिकता को अभिलेखीय साक्ष्य भी सत्यापित करते हैं। यद्यपि इस विषय में अभिलेखीय साक्ष्य सीमित मात्रा में है, फिर भी इनसे इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ता है और इन साक्ष्यों को अतिशयोक्ति या बढ़ा-चढ़ा कर भी नहीं कहा जा सकता है। उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्यों से हमें राजस्थान के राजपूताना के क्षत्रियों में इस प्रथा की लोकप्रियता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सती से सम्बन्धित प्रारम्भिक अभिलेखीय साक्ष्य हमें गुप्तकालीन अभिलेख में मिलता है। यह अभिलेख मध्य प्रदेश के सागर जिले के एरण नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। यहाँ से प्राप्त यह 'एरण-प्रस्तर-स्तम्भ-लेख' गुप्त वर्ष 191 (510 ई०) का

---

1. राज., 7, 96
2. वही 7, 481

है। इस लेख की भाषा संस्कृत है। आप इस अभिलेख में दो तक अंकित तिथि गद्य में व शेष लेख पद्य में है। इस अभिलेख में भानुगुप्त नामक गुप्तकालीन शक्तिशाली राजा व सेनापति गोपराज का (हूणों के साथ) युद्ध करने का उल्लेख है और 7वीं पंक्ति में इस युद्ध में गोपराज के मारे जाने एवं उसकी पत्नी द्वारा चिता की प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर उसकी अनुगामिनी अर्थात् सती होने की सूचना मिलती है।[1]

मानदेव का अभिलेख गुप्त संवत् 386 (705-706 ई०) से भी सती का दूसरा प्राचीन अभिलेख है। यह अभिलेख नेपाल के काठमाण्डू से 5 किमी दूर उत्तर-पूर्व में चांगू नारायण मन्दिर के बायें दरवाजे के खण्डित स्तम्भ के निचले हिस्से से प्राप्त है। इस स्तम्भ की कला गुप्तकालीन है। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है और प्रथम दो लाईन के अतिरिक्त अन्य समस्त अभिलेख (पद्य) श्लोक में है। इस अभिलेख की श्लोक 7-8 में राजा धर्मदेव की पत्नी रानी राज्यवती के सती होने का उल्लेख मिलता है।[2] जो अपने पुत्र मानदेव के मना करने के पश्चात् भी अपने पति के मार्ग की अनुगामिनी बनी। उसने अपने पुत्र को कहा कि पति के बिना निरर्थक जीवन जीने की अपेक्षा उसके साथ मरकर स्वर्ग जाना उसके लिए ज्यादा श्रेयस्कर है।[3]

---

1. कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम् जिल्द III, पृ० 93; आर्क्यालाजि कल सर्वे आफ इण्डिया, जिल्द 10, पृ० 89; भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड III, पृ० 114-फ्लीट (अनु०) गिरिजाशंकर प्रसाद मिश्र "भक्तानुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताग्निराशिम्"
2. इण्डियन एंटीक्वेरी, जिल्द 9, पृ० 163-64, कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द III, पृ० 95-96, देवी राज्यवती तु तस्य नृपतेर्भार्य्याभिधाना सती।।
3. वही, हा पुत्रास्तमिते तवाद्य पितरि प्राणैर्वृषा किम्मम
   राज्यम्पुत्रक कारयाहमनुयाम्यद्यैव भर्त्तुर्ग्गतिम्।।

इसके अतिरिक्त बेलतुरू अभिलेख, जो शक संवत् 979 (901 ई०) का है जिसमें देवकब्बे नामक शूद्र स्त्री के पति की मृत्यु के पश्चात् अपने माता-पिता के मना करने पर भी सती होने का उल्लेख है।[1] इस अभिलेख के वर्णन के आधार पर ज्ञात होता है कि 9वीं शती तक यह प्रथा राजपरिवारों के अतिरिक्त जनसामान्य में भी प्रचलित होने लगी थी और यह सभी वर्गों के लिए प्रचलित थी। सिन्ध महामण्डलेश्वर राचमल्ल ने अपने सरदार बेचिराज की दो विधवाओं के, जो कि सती हो गयी, कहने पर उनकी स्मृति में शक संवत् 1103 में एक मन्दिर का निर्माण करवाया था।[2]

इसके अतिरिक्त उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों से कई सती अभिलेख पाये गये हैं, जिससे में इस प्रथा के विस्तृत प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है।

(1) राजस्थान में सती से सम्बन्धित प्रारम्भिक अभिलेख विक्रम संवत् 803 को प्राप्त हुआ है।[3]

(2) सती से सम्बन्धित एक अन्य अभिलेख धौलपुर से 842 ई० का है जिसमें चाहमान राजा चन्द्रमासेन की माता कान्हाहुला के सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

---

1. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 349
2. एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द 14, पृ० 265, 267
3. अश्विनी अग्रवाल, इकोनोमिक एसपेक्ट्स आफ सती, पृ० 61 पर उद्धृत।
4. अल्तेकर, पो० आ० वू० पृ०, 130, जेड. डी. एम. जी., जिल्द XL, पृ० 39

(3) राणुक का देवली लेख जो जोधपुर के घटियाला नामक स्थान से प्राप्त है, जिसमें भाद्रपद की सुदि 4 को विक्रम संवत् 947 को राजुक की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी संपल्लदेवी के सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(3) देवली लेख के अतिरिक्त घटियाला नामक स्थान से अन्य कई स्मृतिलेख पाये गये हैं जिनमें कई स्त्रियों के अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होने का उल्लेख है। लेख प्राय: घिस कर नष्ट हो चुके हैं फिर भी इनसे इस प्रथा पर प्रकाश पड़ता है। इन स्मृति लेखों में कुछ में सती स्त्री का नाम नहीं मिलता है।

(A) इस स्मृति लेख के प्रथम मूलपाठ के अनुसार 933 को चैत्र एकादशी के दिन रानी सती हुई। इन स्मृति लेखों में रानी व सती हुई स्त्री का नामोल्लेख नष्ट है।[2]

(B) स्मृति लेख के द्वितीय मूल पाठ के अनुसार चैत्र बदी 12 को संवत् 942 को किसी के लोकान्तरित अथवा परलोक प्रयाण या सती होने का उल्लेख है।[3]

(C) राजुकपत्नी सम्पल्लदेवी मूलपाठ[3]

---

1. इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ नार्थ इण्डिया, नम्बर 107; शर्मा दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टी पृ० 289; व्यास मांगीलाल, राजस्थान के अभिलेख, पृ० 3
2. राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, सुखबीर सिंह गहलोत, पृ० 97
3. वही पृ० 97
4. इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द XIX पृ. 8-9

(D) मूलपाठ चार के अनुसार राणुक द्वारा युद्ध में परम गति को प्राप्त होने पर उनकी पत्नी के 7-10वें दिन सती होने का उल्लेख है।

(E) स्मृति लेख के पाँचवें मूल पाठ के अनुसार उनकी पादुकाएं स्थापित होने व उसके साथ पत्नियों के सती होने का उल्लेख है।[1]

(4) इन अभिलेखों के पश्चात् पुष्कर अभिलेख प्राप्त होता है, जिसमें ठाकुर गुहिल की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी के सती होने का उल्लेख है।[2]

(5) मंगालिया राव सिंह की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी हम्मीरादेवी के सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

(6) बस्सी (नागोर) नामक स्थान से वि० स० 1189 (1132 ई०) का एक स्तम्भ-लेख प्राप्त होता है, जिसमें चौहान वंशी महाराज अजयपाल की मृत्यु के पश्चात् उसकी तीन रानियों के सती होने का उल्लेख मिलता है। इस स्तम्भ-लेख में मुख्य रानी का नाम सोमलदेवी मिलता है। यह अभिलेख संस्कृत भाषा में है।[4]

---

1. गहलोत सुखबीर सिंह - राजस्थान के प्रमुख अभिलेख पृ० 98
2. इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दन इण्डिया, पुष्कर इन्स्क्रिप्शन्स नं. 407; अर्ली चौहान डाइनेस्टी, पृ० 290 पर उद्धृत
3. अर्ली चौहान डायनेस्टी पृ० 290 पर उद्धृत
4. इ० आ० 1962-63 पृ० 54 पर उद्धृत, व्यास मांगीलाल, राजस्थान के अभिलेख, पृ० 18

(7) धड़ाव नामक स्थान से एक 'सती स्मारक' अभिलेख मिला है। जो वि० सं० 1194 अर्थात् 1137 ई० का है। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है इसमें खींची शासक लक्ष्मण के पुत्र की मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्रवधू के सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(8) पाल कालीन 'सती स्मारक' अभिलेख प्राप्त होता है। जिसमें वि० सं० 1226 या 1169 ई० के माघ सुदि 2 को शनिवार के दिन प्रतिहार थांथा की पुत्री सोनली की मृत्यु अर्थात् सती होने का उल्लेख है। इस अभिलेख की भाषा देशज है।[2]

(9) वि० सं० 1237 अर्थात् 1180 ई० का 'सती स्मारक अभिलेख' 1237 ऊस्त्रां जिला जोधपुर से प्राप्त हुआ है। इस अभिलेख के अनुसार चैत्र बदि 6 सोमवार को गुहिल राजा तिहुणपाल की मृत्यु पर उसकी तीन रानियाँ—वोडानी, पल्हणदेवी व मातादेवी सती हुई।[3]

(10) वि० सं० 1244 (30 नवम्बर 1187 ई०) को पौष सुदी 14 सोमवार के दिन धार्कट जाति के पोचस गोत्रीय समधर के पुत्र की मृत्यु एवं उसकी पुत्र-वधू के सती होने का उल्लेख इस 'पाल स्मारक' अभिलेख में है।[4] इस अभिलेख की

---

1. व्यास, मांगीलाल, राजस्थान के अभिलेख, पृ० 19
2. तैस्सीतोरी द्वारा जनरल प्रोग्रेस एशियाटिक सोसाइटी बंगाल जिल्द, 12, पृ० 106 पर लिप्यन्तरित है।
3. भण्डारक द्वारा प्रो० रिपोर्ट आफ आर्कियोलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सर्किल, 1911-12, पृ० 53 पर लिप्यन्तरित; राजस्थान के अभिलेख पृ० 39
4. तैस्सीतोरी द्वारा ज० प्रो० ए० सो० बं० खण्ड XII पृ० 106 पर लिप्यन्तरित; इन्स्क्रिप्शन्स आफ नार्दन इण्डिया नं० 423; राजस्थान के अभिलेख पृ० 42

भाषा देशज है।

(11) सती स्मारक अभिलेख जिसमें वि० स० 1248 (1191 ई०) गंगाण देवल (पाल एवं झांवर के मध्य) प्राप्त हुआ है जिसमें वैशाख सुदी 4 को घिरादव के पुत्र-पुत्री यशचन्द्र एवं उसकी बहन दूदी को मृत्यु का उल्लेख है।[1]

(12) ऊस्त्रां (जोधपुर) नामक स्थल से स्मारक अभिलेख मिला है जिसमें वि० सं० १२४८ अर्थात् (4 मई 1192 ई०) की ज्येष्ठ सुदी 6 सोमवार के दिन गहलोत राजा मोतीश्वर की मृत्यु पर उसकी मोहिलवंशीय रानी 'राजी' के सती होने का उल्लेख है[2]

(13) धारा के राजा उदियादित्य के मृत्योपरान्त उनकी दो रानियों के सती होने का उल्लेख मिलता है।[3]

(14) सोलंकी राजकुमार जगदेव के मृत्योपरान्त उनकी तीन रानियों के खुशी-खुशी सती होने का उल्लेख मिलता है।[4]

(15) रतनपुर के कल्चुरि जाजल्लदेव द्वितीय के जयसिंह के साथ हुए युद्ध में उल्हण देव के मृत्यु के बाद उसकी तीन रानियों के उसके साथ सती होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5]

---

1. राजस्थान के अभिलेख पृ० 43
2. भण्डारकर द्वारा प्रो० रि० आ० स० वे० स० 1911-12 पृ० 53 पर उद्धत
3. ए० के० फारेक्स, हिन्दू एनल्स आफ वेस्टर्न इण्डिया, पृ० 117
4. वही, पृ० 117
5. एपि० इ० भाग 11, पृ० 168

(16) रायखेगार की मृत्योपरान्त उसकी पत्नी रानिका देवी द्वारा शुद्धता व पातिव्रत धर्म के पालनार्थ सती होने का उल्लेख मिलता है।[1]

(17) वि० संवत् 1234 अर्थात् 1177 ई० के एक अन्य अभिलेख में सुन्दरदह की पत्नी के सती होने का उल्लेख मिलता है।

(18) जोधपुर के बड़लू नामक स्थान से वि० सं० 1249 अर्थात् (1192 ई०) का 'सती स्मारक अभिलेख' प्राप्त हुआ है जिसमें श्रावण बदी 11 मंगलवार के दिन पंवार वंशीय राजा वारुना के पुत्र नाल्ह एवं पुत्रवधू सोनल देवी के सती होने का उल्लेख है। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है।[2]

(19) चेदि राजा गंगदेव प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर वट वृक्ष के नीचे 1020 ई० में अपनी 100 पत्नियों के साथ कूद कर आत्म त्याग किया।[3] यद्यपि इस घटना को विद्वान सती से सम्बन्धित नहीं मानते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत में 10वीं शती के पहले भी यह प्रथा विद्यमान थी, कश्मीर इसका अपवाद कहा जा सकता है।

---

1. एपि० इण्डि०, भाग 2, पृ० 58, 168
2. राजस्थान के अभिलेख, पृ० 45
3. एपिग्रैफिका इण्डिका जिल्द XII P. 211 V. 12

'प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ सार्घ शतेन

गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्।।

अल्तेकर, पो० अ० वि० हि० सि०, पृष्ठ, 130

राजस्थान में सती प्रथा का काफी प्रचलन था। यहाँ से सर्वाधिक संख्या में सती से सम्बन्धित साक्ष्य मिलते हैं।

अभिलेखों से प्राप्त सती के उदाहरणों के आधार पर इस प्रथा के प्रचलन का अनुमान लगाया जा सकता है। विवेच्य काल में प्रचलित होते हुए भी सती की जानकारी देने वाले अभिलेखों की संख्या काफी कम है। इस सन्दर्भ में हम उत्तर भारत के विशेषकर 7वीं से 12वीं सदी के मध्य राजस्थान के विषय में प्रारम्भिक आकलन प्रस्तुत कर सकते हैं। सम्भवतः क्रूर आक्रान्ताओं से अपनी विधवाओं को सुरक्षित रखने की इच्छा ने ही यहाँ सती को प्रोत्साहन दिया कैप्टन बिंग्ली के अनुसार—राजपूतों ने सती प्रथा शकों से ग्रहण की थी,[1] क्योंकि यहाँ से मध्य एशिया नजदीक था। इस युग तक सती प्रथा को साहस, आत्मबलिदान, त्याग और पतिव्रता का प्रतीक मान लिया गया था। डॉ. रघुनाथ सिंह के अनुसार यह प्रथा मेवाड़ राज्य में अत्यधिक प्रचलित थी। यहाँ पर नौंवी से ग्यारहवीं शती ई० के मध्य अनेक रानियों के सती होने के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। धीरे-धीरे यह प्रथा इस राज्य में अत्यधिक प्रचलित हो गयी कि मेवाड़ के गाँव-गाँव में सतियों का चौरा बनाकर उनकी पूजा की जाने लगी।

पूर्वमध्यकालीन समाज में प्रचलित इस प्रथा का समर्थक कतिपय विदेशी यात्रियों के वर्णनों से भी होता है। अरब यात्री सुलेमान ने दसवीं शती ई० में भारत की यात्रा के समय तत्कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख करते हुए लिखा है कि, पति की मृत्योपरान्त सती होना अनिवार्य नहीं था, वे स्वेच्छा से सती या सात्विक जीवन

---

1. बिंग्ली ए. एच.,हैण्ड बुक आन राजपूतास्,
2. डॉ. रघुनाथ सिंह द्वारा राजतरंगिणी की टीका, द्वितीय तरंग, पृ. 403 की पाद-टिप्पणी में उद्धृत।

का चयन करती थी।[1] ग्यारहवीं शताब्दी की उत्तरी भारत की समाजार्थिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए अल्बरूनी लिखता है कि पति की मृत्योपरान्त विधवा के पास दो ही विकल्प थे, या तो वह सती हो जाती थी या सात्त्विकता पूर्ण जीवन-यापन करती थी, परन्तु उसे पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं था। उक्त प्रसंग में वे आगे लिखते हैं कि उच्चवर्गीय राजपरिवारों में एवं सामान्यवर्ग में भी यह प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि इस समय पुनर्भू एवं सम्पत्ति का अधिकार विधवाओं को नहीं प्राप्त था, अतः वे सती के मार्ग का ही अनुसरण करती थी। तत्कालीन समाज में अल्पवयस्क पुत्रवती एवं वृद्ध विधवाओं को ही सती न होने की स्वेच्छा से छूट थी।[2]

ब्राह्मण विधवा और सती

उपर्युक्त विवरण के परिप्रेक्ष्य में यह जानकारी मिलती है कि सती प्रथा प्रारम्भ में सिर्फ राजपूत और क्षत्रिय योद्धाओं तक ही सीमित थी।[3] ब्राह्मण धर्म में ब्राह्मणी को सती होने पर रोक लगाया गया है। धर्मशास्त्रकारों ने क्षत्रियों को ही इस प्रथा के अनुकरण को उपयुक्त बताया है।[4] पद्मपुराण में ब्राह्मण स्त्री के लिए सती प्रथा के अनुसरण को ब्रह्म हत्या के समान बताया गया है। और जो व्यक्ति सती होने में उसकी मदद करेगा वह महापाप का भागी होगा।[5]

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, अध्याय 1, पृ० 56
2. सचाऊ अल्बरूनीज इण्डिया, भाग 11, पृ० 155-56 165
3. अल्तेकर : दि पो० आफ विमेन बनारस 1938 पृ० 138 में वृद्धदेवता में उद्धृत है।
4. ग्यारहवीं सदी का भारत पृ० 164-65
5. पद्मपुराण 149-72-3

    न म्रियते समं भर्त्रा ब्राह्मणी ब्रह्मशासनात्। प्रव्रज्यागतिमाप्नोति मरणादात्मघातिनी।। नरोत्तम उवाचः सर्वासामेव जातीनां ब्राह्मणः शस्य उच्यते। पुण्यं च द्विजमुख्यन अत्र किं वा विपर्ययः। भगवानुवाच ब्रह्मण्या साहसं कर्म नैव कार्य कदाचन्। निश्शेषेऽस्या वद्यं कृत्वा स नरो ब्रह्महा भवेत्। सृष्टि खण्ड 49, 72-3

तत्कालीन वर्ण व्यवस्था के तहत् ब्राह्मण व क्षत्रियों के धर्म अलग-अलग थे। किन्तु सती का समाज में ऐसा प्रचार-प्रसार हुआ कि ब्राह्मण समुदाय भी इससे अछूता न रह सका और 1000 ई० के आसपास बंगाल में ब्राह्मणों को भू-स्वामित्व व विधवा को सम्पत्ति में अधिकार मिलने के कारण, सम्पत्ति पर स्वत्व के चलते यह प्रथा ब्राह्मणों में भी प्रचलित हुई और धीरे-धीरे इसका प्रचलन भी ब्राह्मण धर्म में बढ़ गया। इस प्रकार धर्मशास्त्रों के निषेध के बावजूद भी सती प्रथा का प्रभाव ब्राह्मण समाज पर बढ़ता चला गया।

यद्यपि अपरार्क ने (अंगिरा, पैठनिस और व्याघ्रपद की व्याख्या से) ब्राह्मण विधवा के सती होने का विरोध किया है, किन्तु निबन्धकारों ने इस इनकार को नये शब्दों में परिभाषित कर दिया, जिसके अनुसार ब्राह्मण विधवायें अपने आप को अपने पति की चिता के साथ ही जला सकती थी। यदि उनके पति की मृत्यु विदेश में हुई हो तो वे अपने आप को जला नहीं सकती थी। इस के आधार पर यह विधान किया गया कि ब्राह्मण विधवा को अपने पति के शव का आलिङ्गन करके अग्नि में प्रवेश करना चाहिए। यदि वह पति के उपरान्त जीवित रहती है, तो उसे केश सज्जा नहीं करना चाहिए एवं कठिन तप द्वारा शरीर को गला देना चाहिए।[1] अपरार्क के अनुसार जब एक ब्राह्मण विधवा को पति की चिता पर चढ़ने से रोका जाता है और वह मना करने पर भी सती होती है, तो, यह उसके सामान्यतः क्षणिक दुःख के कारण होता है।[2] माधव

---

1. व्यास स्मृति 2, 53
2. अपरार्क, का याज्ञ० 1, 87 पर टीका

   तस्माद्विधितः- प्रवर्तमानाया ब्राह्मण्या अनुगमनान्निषेधो न विद्यते। शोकादिप्रवृत्तायास्तु विद्यते एव।

के अनुसार विधवा ब्राह्मणी के मानसिक व शारीरिक दुःखों को ध्यान में रखते हुए उसे पृथक चिता पर सती होना चाहिए।[1] इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट हो गया कि सती प्रथा अब ब्राह्मणों में भी लोकप्रिय थी, किन्तु ब्राह्मण विधवाओं को अन्वारोहण की अनुमति थी अनुगमन की नहीं।[2]

सती होने की विधि –

जैसा कि उपर्युक्त वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि सती एक प्रचलित प्रथा बन चुकी थी और इसे पूर्णतया धार्मिक रूप भी प्रदान कर दिया गया था। सती होना एक गौरव की बात थी। इसलिए सती को एक बड़े जुलूस के साथ शहर से श्मशान तक ले जाया था। सती को सौभाग्य, मंगलसूचक व पूजनीय समझा जाने लगा था। अपरार्क ने शुद्धितत्व[3] में सती की विधि का वर्णन किया है कि– विधवा सती होने से पूर्व स्नान करती थी, उसके पश्चात् वे सफेद वस्त्र धारण करती थी, वह अपने हाथों में कुश पकड़कर उत्तर पूरब की ओर मुख करके आचमन करती थी। उसे सौभाग्य चिह्न[4] पहना कर कंघी, पान के पत्ते, कुमकुम, ऐनक आदि सभी दिया जाता

---

1. माधव की पराशर टीका IV, 31
   अस्य निषेधस्य पृथक्चितिनिषेधत्वात्। अत एवोशनाः। पृथक्चिति समारूह्य न विप्रा गन्तुमर्हति।।
2. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 351
3. याज्ञवल्क्य, 1.87 पर अपरार्क का भाष्य
4. पद्मपुराण, पाटलखण्ड 102, 67
   स्नानं मंगलसंस्कारो भूषणाञ्जनसाधारणम्। गन्धपुष्पं तथा धूपं हरिद्राक्षतधारणम्।।
   मंगल च तथा सूत्रं पादालक्तकमेव च। शक्त्या दानं प्रियोक्तिश्च प्रसन्नास्यत्वमेव च।।
   नाना मंगलवाद्यानां श्रवणं गीतकस्य च। कुर्यादथ स्वफां भूषां विप्राय प्रतिपादयेत्।।

था। वह अपने आभूषण अपने मित्रों और रिश्तेदारों को दे देती थी, क्योंकि अब उसे इनकी आवश्यकता नहीं रहती थी। ब्राह्मण 'ओम् तत्सत्' का उच्चारण करता था। सती होने वाली स्त्री भगवान् नारायण का स्मरण करती हुई, मास, पक्ष एवं तिथि का संकेत करती हुई सती होने का संकल्प करती थी। उसके पश्चात् वह अपनी प्रतिज्ञा के लिए आठों दिक्पालों, सूर्य, चन्द्र, अग्नि को साक्षी बनाकर अग्नि के चारों तरफ तीन बार प्रदक्षिणा करती थी। ब्राह्मण द्वारा वैदिक मंत्रों[1] के पाठ के मध्य (इमा नारी) और पौराणिक वचन 'पति में अनुरक्त ये भद्र और पवित्र स्त्रियां मृत पति के साथ अग्नि में प्रवेश करें' ऐसा कहने पर स्त्री 'नमो नमः' का उच्चारण करती हुई, पति की जलती चिता पर चढ़ कर सहमरण अथवा अनुमरण व्रत का पालन करती थी। यदि अनेक विधवायें होती थीं, तो उनके लिए अलग-अलग चिताएं बनायी जाती थी। इसके अतिरिक्त यदि पति दूसरे देश में मरता था, तो विधवा को अलग चिता पर अपने पति के जूते व पगड़ी उसके शरीर के स्थान पर रखे जाते थे और वह उनके साथ सती होती थी।

कभी-कभी विधवाएं जो पति के साथ सती होने की इच्छुक थी, परन्तु आग की पीड़ा के कारण चिता से कूद पड़ती थी। मैसूर अभिलेख[2] के अनुसार सती होने के लिए जाती हुई विधवा को मरना आवश्यक था और इसके लिए गुजरात और उत्तरी उत्तर प्रदेश में 12 फीट का लकड़ी का घर बनाया जाता था और विधवा को उसके पोल में बांध दिया जाता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि विधवा का चिता से बचकर

---

1. ऋग्वेद 10.18.7
2. एपिग्राफिया कर्नाटिका जिल्द IV, 2 पृ०-18

नहीं आना चाहिए इसे अमंगल माना जाता था।

इस प्रकार उपर्युक्त साक्ष्यों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि सती होना विधवा के लिए गौरव की बात थी। प्रारम्भ में यह स्वतः इच्छा से थी, किन्तु कालान्तर में धीरे-धीरे इसमें क्रूरता शामिल होती गयी और विधवाओं को जबर्दस्ती भी सती करवाया जाने लगा।

सती प्रथा के विरोधी विचारक –

यद्यपि सती प्रथा तत्कालीन समाज में पूर्णतः मान्य एवं स्थापित परम्परा थी और तत्कालीन समाज के सभी वर्गो ने इसे मान्यता दी, किंन्तु इस मान्यता के बावजूद कुछ ऐसे विचारक थे, जिन्होंने इस प्रथा का विरोध भी किया है। सती प्रथा का विरोध करने वाले तत्कालीन विचारकों में बाणभट्ट, देवणभट्ट, मेधातिथि, एवं विराट् आदि थे।

यद्यपि सती सर्वमान्य प्रथा थी, और अंगिरास्मृति में इसका वर्णन भी मिलता है, किन्तु कोई व्यावहारिक महत्त्व न होने के कारण कुछ धर्मशास्त्रकारों द्वारा इस प्रथा का विरोध में भी किया गया है और इसकी तुलना आत्महत्या से की है।[1] और स्त्री के लिए यह सर्वथा निषिद्ध था। विराट् ने इस प्रथा का विरोध करते हुए कहा है कि एक विधवा जीवित रहकर अपने कर्मों का पालन करते हुए पति के दायित्वों को पूरा करती है,

---

1 मनु पर मेधातिथि की टीका, 8-156-7 पुंवत्स्त्रीणामपि प्रतिषिद्ध आत्मत्यागः। यथैव श्येनेन हिंस्याद्भूतामि' इति अधिकारस्य अतिप्रवृद्धद्वेषान्धतया सत्यामपि प्रवृत्तौ न धर्मत्वम् एवमिहापि (अनुमरणस्य) न शास्त्रीयत्वम्। किं च तस्माद् ह न पुरायुषः प्रेयादिति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधोऽयम् अतोऽस्त्यव पतिनुमरणे स्त्रियाः प्रतिषेधः।

तो वह सती की अपेक्षा उसका अधिक भला कर सकती है।[1] अपरार्क की टीका याज्ञवल्क्य I, 87 मेधातिथि के अनुसार स्त्री को पति की चिता पर जल मरने की अपेक्षा जीवित रह कर अपने कर्मो का पालन करना अधिक श्रेष्ठ व श्रेयस्कर है।[2] यद्यपि अंगिरा ने सती को श्रेष्ठ धर्म माना है तथा अपरार्क ने शुद्धितत्व के आधार पर इसे केवल सहमरण की महत्ता की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं।[3]

महाकवि बाण सती प्रथा की त्रासदी का वर्णन करते हुए इसे मूर्खों द्वारा अपनायी गयी, मूर्खता की पराकाष्ठा कहते हैं। उन्होंने इसे अमानवीय कृत्य कहते हुए कहा है कि व्यक्तिओं का स्वर्ग या नरक में जाना उनके कर्मों के अनुसार होता है। दो व्यक्तियों के कर्म एक समान नहीं होते हैं। अतः मृत पति के साथ चिता में जलकर पत्नी, उससे एकाकार नहीं हो सकती और न ही पति को नरक में जाने से रोक सकती है और न ही स्वर्ग में उसकी उपस्थिति अनिवार्य करा सकती है। यदि विधवा सती होती है तो वह नरक में जाती है, क्योंकि यह एक तरह की आत्महत्या है और ऐसे लोगों का स्थान एकमात्र नरक में है।[4] शूद्रक के ग्रन्थ मृच्छकटिक[5] में भी सती प्रथा की निन्दा

---

1. अपरार्क की टीका याज्ञवल्वय,. I, 87

अनुवर्तेत जीवन्तं न तु यायान्मृतं पतिम्।

जीवद्भर्त-हितं कुर्यान्मरणादात्वधातिनी।।

2. मनु टीका मेधातिथि,V 157
3. अंगिरा पर अपरार्क द्वारा टीका,पृ० 109, पराशर माधवीय द्वारा 2/1 पृ० 58 में उद्धृत।

सर्वासामेव नारीणामग्निप्रपत नादृते।

नान्यो धर्मोहि विज्ञेयो मृते भर्तरि कर्हिचित्।

4. कादम्बरी, पूर्वार्ध, पृ० 308
5. मृच्छकटिक, अंक 10

करते हुए इसे आत्महत्या बताया गया है। महापरिनिर्वाणतन्त्र के लेखक ने भी इस विरोध से सहमत होते हुए कहा है कि स्त्री सर्वशक्तिमान देवी है और यदि कोई व्यक्ति उसे जबर्दस्ती जलाता है तो वह स्थायी रूप से नरकगामी बन जाता है।[1] 12वीं शताब्दी के देवण्णभट्ट भी सती प्रथा के विरोधी शास्त्रकार रहे हैं। उन्होंने कहा है कि सती एक निकृष्ट कर्म है और इसे किसी भी तरह मान्यता नहीं दी जा सकती है। उनके अनुसार सती होना विधवा के ब्रह्मचारिणी रहने की अपेक्षा अधिक जघन्य है।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त साक्ष्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कतिपय विद्वानों द्वारा सती प्रथा का विरोध किये जाने के बावजूद भी समाज में इसका प्रभाव बराबर बना रहा। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि समाज के अभिजात वर्ग में यह प्रथा पूर्णतः अनिवार्य एवं स्थायी हो गयी थी। धीरे-धीरे यह प्रथा तत्कालीन समाज में योद्धा वर्ग में विशेष लोकप्रिय हो गयी। इस प्रकार समाज में असहाय विधवाओं का जलाया जाना दिनोंदिन बढ़ता गया। कर्म के सिद्धान्त को सती के साथ सम्बद्ध करके इसे विधवा के लिए पतिव्रत आत्मबलिदान एवं पति से पुनर्मिलन का एकमात्र साधन बताया गया।

---

1. महानिर्वाणतन्त्र,10-79 मोहाद्भर्तृश्चितारोहाद्भवेन्नरकगामिनी।
2. स्मृति चन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ० 598

   यत्तु विष्णुना धर्मान्तरमकुतं मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा तदेतद्धर्मान्तरमपि ब्रह्मचर्यधर्माज्जघन्यम्। निकृष्टफलत्वात्।।

उपर्युक्त साहित्यिक, ऐतिहासिक, धर्मशास्त्रीय एवं अभिलेखीय साक्ष्यों के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में यह प्रथा क्षत्रियों के लिये थी, किन्तु 7वीं शताब्दी में सती को धार्मिक रूप प्रदान करके तत्कालीन व्यवस्थाकारों ने इसका महिमामण्डन किया और धीरे-धीरे यह प्रथा ब्राह्मणों एवं समाज के अन्य वर्गों में भी प्रचलित होती चली गयी। 7वीं से 12वीं शती ई. में यह प्रथा काश्मीर एवं राजस्थान में सर्वाधिक प्रचलित थी।

विधवा के सती होने को धार्मिक विचार से जोड़ा गया, एवं ऐसी धारणा विकसित हुयी कि सती होने वाली स्त्री मृत पति के पाप को भी अपने सतित्व से धो देती है। 9वीं-10वीं शती० ई० में इन सती स्त्रियों की स्मृति में अनेक स्मृति पत्थरों की स्थापना की गयी, जो राजस्थान में बहुतायत की संख्या में मिले हैं। इन्हें देवाली (DEVALI) कहा गया है।[1] जगत् की सर्वाधिक सती स्त्रियाँ मेवाड़ की हैं। मेवाड़ के गाँव-गाँव में सतियों का चौरा स्थापित करवाया गया था जिसकी पूजा पुण्य का कार्य माना जाता था।[2]

सती प्रथा के दिनों-दिन प्रचलन के पीछे तत्कालीन आर्थिक समस्यायें भी थी, क्योंकि 7वीं शताब्दी से विधवा को पति की सम्पत्ति पर अधिकार मिल गया था और उस सम्पत्ति पर स्वत्व प्राप्त करने के लिए भी इस प्रथा को बलात् भी प्रचलित किया गया। धार्मिक आर्थिक पहलू के अलावा सामाजिक मान-प्रतिष्ठा भी सती के प्रचलन का

---

1. तिवारी डी० पी०, प्रा० भा० वि० पृ० 46
2. राजतरंगिणी पर रघुनाथ सिंह की टीका, पृ० 402-403

एक महत्वपूर्ण पहलू था। जिसके अनुसार यदि कोई प्रतिष्ठित, राज परिवार का व्यक्ति मरता था तो उसके साथ, उसके सम्बन्धित, कई पत्नियां, मंत्री, दास-दासियां चिता में जितनी अधिक संख्या में भस्म होते थे, वह उतने ही गौरव की बात मानी जाती थी। इस महिमा मण्डन से सामान्यतः राजपूत राजकुमारियाँ सती होने के अवसर का स्वागत करती थी, एवं पति की चिता को अकेले जलाये जाने का भी विरोध करती थी। जिन राजाओं के सन्तान नहीं थी, उनकी चिताओं के साथ किसी अधिकारी को जलने के लिए नियुक्त किया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 7वीं शताब्दी से अधिक प्रचलन में आयी यह क्रूर प्रथा 12वीं शताब्दी तक अपनी पराकाष्ठा से गुजरती हुई, बाद के कालों तक अनेक विरोधों के बावजूद लोकप्रिय होती गयी। सच्चरित्रता एवं सदाचार एवं पति के प्रति एकनिष्ठता की भावना से प्रेरित करने वाले, इस जघन्य कार्य को (स्त्री को स्वयं जल मरने एवं बलात् सती होने को) बल प्रदान किया। एक प्रमुख भाष्यकार के शब्दों में सम्पत्ति पर स्त्री के अधिकार के परिणामस्वरूप ही यह प्रथा विकसित हुई, सत्य ही प्रतीत होता है, किन्तु इसके पीछे मुस्लिम आक्रमण एवं इनकी दासता से मुक्ति भी शामिल रही होगी इससे भी इनकार नहीं किया जाता।

अन्ततः इन दोनों ही परिस्थितियों को सती प्रथा के प्रचार-प्रसार एवं लोकप्रियता से जोड़कर अध्ययन करना चाहिए। इस प्रथा के पीछे कारण चाहे जो भी रहा हो, यह एक तरह से पूर्णतः अमानवीय कृत्य था, जिसमें विधाता द्वारा सतायी विधवा स्त्री को और प्रताड़ित एवं दण्डित करने एवं उसके कर्मों को बलात् निर्धारित करने का प्रयास

किया जाता था जो सर्वथा प्रकृति एवं मानवता के विरुद्ध था। ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस जीवन को मूर्खतावश किसी अलौकिक सुख के अनचाहे फल के कारण यूँ ही निरर्थक गँवा देना या नष्ट कर देने से मनुष्य पाप का ही भागीदार बनता है और उसके द्वारा प्रदत्त समस्त पुण्य कर्म नष्ट हो जाते हैं।

❑

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में विधवा के तात्पर्य एवं उसके वर्गीकरण का विवेचन किया गया है। विधवा का अर्थ मृतपतिका स्त्री से होता है। यह एक ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका पति मर चुका हो, और उसने दूसरा विवाह न किया हो।

संस्कृत के व्याकरणाचार्य विधवा शब्द की व्युत्पत्ति धवः शब्द से मानते हैं, जिसका तात्पर्य मनुष्य या पति से है। सर्वप्रथम इस अर्थ में धवः का प्रयोग यास्क ने निरुक्त में किया है। उनके काल में ही विधवा शब्द का अर्थ मृत व्यक्ति की पत्नी के रूप में किया गया। उन्होंने विधवा को विधातृका भी कहा है।

विभिन्न शब्दकोषों में विधवाओं के लिए अनेक समानार्थक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अमरकोश में–विश्वस्ता एवं विधवा–को समानार्थक बताया गया है। मेदिनीकोश में विधवा स्त्री को विधवा कहा गया है। उत्तरवर्ती कोशों, उदाहरणार्थ वैजयन्ती कोश तथा अभिधानचिन्तामणि, में मृतभर्त्ता की स्त्री को विधवा बताया गया है। इन कोशों में अर्धवृद्धा विधवा के लिए एवं गेरुआ वस्त्र धारण करने वाली विधवा के लिए कात्यायनी शब्द मिलता है। हलायुध – कोश में विधवा के लिए जालिका, मृतभर्तृका, विश्वस्ता, रण्डा एवं यातिनी आदि शब्द मिलते हैं। क्षेमेन्द्र ने देशोपदेश में स्वतंत्र रूप से रमण करने वाली विधवा के लिए रण्डा शब्द प्रयुक्त किया है। यह शब्द आज भी अपने अपभ्रंश रूप (राँड) में दिखाई देता है। हलायुध–कोश में विधवा के लिए निष्फला शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ पति एवं पुत्र रहित स्त्री से है।

विधवा के लिए प्रयुक्त विभिन्न समानार्थक शब्दों के प्रकाश में उनका कई प्रकार से वर्गीकरण भी किया जा सकता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उसे तीन वर्गों में

विभाजित किया जा सकता है (1) विवाह के आधार पर, (2) आयु के आधार पर, (3) चरित्र के आधार पर।

विवाह के आधार पर विधवाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में विवाह सम्पन्न होने के पूर्व ही विधवा हुयी कन्याएं थी, जिसके अन्तर्गत वाग्दत्ता, उदकस्पर्शिता, मनोदत्ता एवं शुल्कदत्ता विधवाएं आती थीं। विवाह के आधार पर द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत वे स्त्रियाँ आती हैं, जो विवाह के मध्य पति के मरने से विधवा हुयी। इनमें अग्निपरिगता, पाणिग्रहीता एवं सप्तमपदनीता आती हैं। इसके अतिरिक्त विवाह सम्पन्न होने के कुछ ही समय पश्चात् पति की मृत्यु हो जाने की स्थिति में विधवा हुयी स्त्रियाँ भी इस श्रेणी में आती थीं। इनमें–भुक्ता विधवा एवं गृहीतगर्भा विधवा आदि हैं। विवाह के आधार पर किये गये वर्गीकरण में सप्तपदी पूर्ण होने के पश्चात् विधवा हुयी स्त्रियाँ भी दो प्रकार की बतायी गयी हैं – (1) क्षतयोनि, एवं (2) अक्षतयोनि।

विधवा का द्वितीय वर्गीकरण आयु के आधार पर किया गया है। इसमें आठ से दस वर्ष की आयु में विधवा हुयी स्त्रियाँ तापिता, रोहिणी एवं अवीरा कहलाती थीं। ये रजस्वला होने से पूर्व विधवा हुयी स्त्रियाँ थीं। रजस्वला होने के पश्चात हुयी विधवाएं 10 से 20 वर्ष तक की आयु की होती थीं। इनके लिए क्रमशः दुर्भगा विधवा, कुटिला विधवा, काष्ठा विधवा, चरमा विधवा, चटुला विधवा, वशा विधवा, वीर रण्डा विधवा, कुण्डरण्डा विधवा, वाधारण्डा विधवा एवं पराखण्डा आदि शब्द मिलते हैं। धर्मपरक जीवन व्यतीत करने वाली विधवा को कात्यायनी बताया गया है।

विधवाओं का तृतीय वर्गीकरण चरित्र के आधार पर किया गया है। इस आधार पर विधवाओं को साध्वी एवं असाध्वी दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में विधवाओं की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति तथा उन पर आरोपित निर्योग्यताओं का विश्लेषण किया गया है। वैधव्य को स्त्री के पूर्वजन्मों का प्रतिफल माना जाता था। इस काल खण्ड में बदलती हुयी सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों तथा विदेशी संस्कृति के प्रभाव से समाज में अनेक रूढ़ियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका विधवाओं की दशा पर विशेष प्रभाव पड़ा। रक्तशुद्धता एवं असुरक्षा की भावना के कारण विधवाओं के ब्रहचर्यपरक जीवन व्यतीत करने पर बल दिया जाने लगा। धर्मशास्त्रकारों नें ऐसी विधवाओं के लिए अनेक नियमों का विधान किया और उन्हें धार्मिकता से जोड़कर पुष्ट किया।

ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने वाली विधवाओं के लिए धर्मशास्त्रकारों द्वारा कुछ सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थों का उल्लेख किया गया। वृद्धहारीत (6–9 वीं शती ई.) के अनुसार विधवा को सात्विक जीवन यापन करना चाहिए। इनके अनुसार विधवा को बाल सज्जित नहीं करना चाहिए; पान सुगंधित पदार्थ, आभूषण , रंगीन वस्त्र, कॉसे व पीतल के बर्तन आदि का उपयोग एवं साज–श्रृंगार एवं नहीं करना चाहिए। उसे श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए एवं हरिभजन तथा सत्संग में अपना समय व्यतीत करना चाहिए। स्मृतिचन्द्रिका (1200–1225–ई.) में उद्धत प्रचेतस स्मृति में भी विधवा के सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थों का उल्लेख मिलता है। इसमें असेवनीय पदार्थों में मधु, मांस, लवण, मद्य आदि थे। कुल्लूक भट्ट (1150–1300 ई.) ने विधवा के लिए मधु, मांस, मैथुन, मदिरा आदि को वर्जित बताया है। मेधातिथि (825–900 ई) के अनुसार ब्रह्मचर्यपरक जीवन यापन करने वाली विधवा को कन्द, फल, मूल आदि का सेवन करके अपने शरीर को क्षीण कर देना चाहिए। पराशर स्मृति (600–900 ई.) के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने वाली विधवाएं मरने पर ब्रह्मचारिणियों के समान स्वर्गगामिनी बनती हैं। वसिष्ठ स्मृति में

विधवा को एक समय भोजन करने और त्रिरात्र, पंचरात्र, पक्षव्रत, मासव्रत एवं चन्द्रायण व्रत करने का विधान किया गया है।

स्मृतियों एवं उनकी टीकाओं के अतिरिक्त तत्कालीन कुछ पुराणों से भी विधवा की दशा पर प्रकाश पड़ता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिठाई, चौराई, मसूर, नीबू, गोलाकार लौकी आदि को विधवाओं के लिए असेवनीय बताया गया है। स्कन्दपुराण (7वीं से 9वीं शती ई. के मध्य) के काशीखण्ड में विधवाओं के सात्त्विक जीवन से सम्बन्धित महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसमें विधवाओं के सेवनीय एवं असेवनीय पदार्थों के अन्तर्गत भांटा, सूरन, मधु–मांस आदि को वर्जित एवं कंद, मूल, फल आदि को श्रेष्ठ बताया गया है। इसके अतिरिक्त उसे प्रतिदिन तिल, जल एवं कुश से तर्पण करने को उत्तम बताया गया है। गरुड पुराण (600–900 ई.) में भी मत्स्यपुराण की भाँति ही उल्लेख मिलता है।

इस काल खण्ड के अन्य ग्रन्थों से भी विधवाओं के सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। इनमें वराहमिहिर की वृहसंहिता, वृहज्जातक; बाणभट्ट (6–7 वी शती.ई.), की कादम्बरी एवं हर्षचरित; जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णी, (7वीं शती ई.), जैन कथा ग्रन्थ समराइच्चकहा (8–9 वी शती ई.) महत्वपूर्ण है। इन रचनाओं में विधवाओं के लिए सात्विक जीवन को श्रेष्ठ बताया गया है।

इन ग्रन्थों से विधवा के कष्टमय एवं उपेक्षित जीवन पर प्रकाश पड़ता है। सोमदेव कृत कथासरित्सागर (11वी शती ई.) में भी विधवाओं के कष्टमय जीवन का उल्लेख मिलता है। इसमें उनकी निर्बलता का लाभ उठाकर उनके परिजनों द्वारा उनकी सम्पत्ति के हरण करने का भी उल्लेख मिलता है।

विदेशी यात्री–अल्बरूनी (11वी शती ई.) के विवरण से भी विधवा की सामाजिक

स्थिति के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इसके अनुसार विधवा के सामने पति की मृत्यु के पश्चात् दो विकल्प थे-या तो वह सात्विक जीवन व्यतीत करती थी या सती हो जाती थी। सात्विक जीवन अपनाने वाली विधवा का समाज में उत्पीड़न होता था, तथा राज्य द्वारा इसकी सम्पत्ति का हरण करके उसे भरण-पोषण मात्र दिया जाता था।

इस काल तक विधवा को अशुभ माना जाने लगा था। इस प्रकार समाज द्वारा विधवा को तिरस्कृत किया जाता था। शंख स्मृति (600-900ई.) में विधवा पत्नी को मृतपति की पिण्डदात्री बताया गया है। उसे पुत्र के अभाव में मृत पति को पिण्डदान देने का अधिकारी माना है। देवल स्मृति (600-900 ई.) में यथाशक्ति तीन दिन, 15 दिन एवं महीने भर के व्रत को विधवा धर्म के अन्तर्गत माना गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर भी सात्विक जीवन यापन करने वाली विधवा को पति के मृत्योपरान्त उसकी पिण्डदात्री मानते हैं । जीमूतवाहन (1100-1150 ई.) ने विधवा को मृतपति के प्रेतकर्म एवं श्राद्धकर्म में सम्पत्ति के व्यय करने का उल्लेख किया है।

स्कन्द पुराण (7वीं - 9वीं शती ई. के मध्य) में विधवाओं के धार्मिक कर्तव्यों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इस पुराण में विधवा द्वारा तीर्थयात्रा करने पर बल दिया गया है, क्योंकि इससे मानसिक शान्ति मिलती है। इसमें विधवा के द्वारा धार्मिक स्थलों की यात्रा करके पति की प्रिय वस्तुओं के दान का विधान मिलता है। इन नियमों का पालन करने वाली पतिव्रता विधवा को गंगा के समान पवित्र एवं मरने के बाद स्वर्ग की अधिकारिणी बताया गया है। देवी भागवत पुराण (500 से 1000 ई.) में विधवा के लिए नवरात्र एवं एकादशी के व्रतों को श्रेयस्कर बताया गया है। आदि पुराण (9वीं शती ई.) में स्वर्ग प्राप्ति के लिए विधवा को दान, व्रत, हरिभजन इत्यादि द्वारा आत्मशोधन के मार्ग को अपनाने

का उल्लेख मिलता है। पद्यम पुराण (900–1500 ई.) से भी पुत्रहीन विधवा को तीर्थों में जाकर मृत पति को पिण्डदान देने की जानकारी मिलती है।

साहित्यिक ग्रन्थों से भी विधवा के धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। बाणभट्ट (6–7 वीं शती ई.) ने विधवा के सात्विक जीवन का वर्णन करते हुए उसे मृत पति की पिण्डदात्री बताया है। हर्ष कृत रत्नावली में पुत्रहीन विधवा को पुत्र द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले तर्पण कार्य का अधिकार दिया है एवं पुत्रवती विधवा को पति को मात्र जलांजलि देने का उल्लेख मिलता है।

विवेच्यकाल में विधवा रानियों द्वारा अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं पापों से मुक्ति के लिए, धन, गाय, भूमि, वस्त्र इत्यादि के दान देने के उल्लेख अभिलेखों में भी मिलते हैं। 8वीं शती ई. के कुछ राष्ट्रकूट कालीन अभिलेखों में विधवा रानियों द्वारा मन्दिरों को धर्मार्थ दान देने के उल्लेख मिलते हैं। 8 वीं शती ई. में उड़ीसा की दो विधवा रानियों – त्रिभुवन देवी एवं दण्डी देवी द्वारा धार्मिक कार्य हेतु भूमि–दान देने की जानकारी मिलती है। ऐतिहास परक ग्रन्थ राजतरंगिणी में कश्मीर की विधवा रानियों सुगन्धा एवं दिद्दा – द्वारा मन्दिरों एवं विहारो के निर्माण करवाने के उल्लेख मिलते हैं।

विवेच्य काल–खण्ड में विधवाओं के मुण्डन की प्रथा के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी प्राप्त होती है, किन्तु यह प्रथा कब से प्रारम्भ हुयी, यह बता पाना कठिन है। यह प्रथा सम्भवतः 500 ई. के पश्चात प्रारम्भ हुयी होगी। पी. वी. काणे इस प्रथा का प्रारम्भ 10 वी से 11वीं शती ई. के मध्य मानते हैं । मुण्डन की यह प्रथा विधवाओं के लिए एक निर्योग्यता थी, जो उन्हें सामाजिक जीवन की मुख्य धारा से पृथक करने के लिए उस पर बलात् लादी गयी थी।

उपर्युक्त सामाजिक एवं धार्मिक नियम प्रायः तत्कालीन समाज में सामान्य वर्ग तक ही सीमित दिखायी देते हैं। इस समय उत्तर भारत में राजपरिवारों में विधवाओं का जीवन इतना कष्टमय नहीं था। अनेक ऐसी रानियों के उदाहरण भी मिलते हैं, जिन्होंने वैधव्य के उपरान्त पुत्र की संरक्षिका अथवा स्वतन्त्र शासिका के रूप में कुशलतापूर्ण साम्राज्य का संचालन भी किया। इस प्रकार के कई उदाहरण उड़ीसा, राजस्थान, गुजरात एवं कश्मीर आदि से उपलब्ध होते है।

इस शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों का अनुशीलन किया गया है। सामान्यतः पति के मरणोपरान्त समुचित आश्रय छिन जाने के कारण विधवा के समक्ष जीवन – यापन की विकट समस्या आ जाती रही होगी। इस समस्या का निदान विधवा को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करके ही किया जा सकता था। प्राचीन काल में संयुक्त परिवार होने के कारण सम्पत्ति का स्वत्व सामूहिक होता था, एवं व्यक्ति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसका पुत्र माना जाता था। इस काल तक विधवा को मृतक पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं माना गया था, कालान्तर में याज्ञवल्क्य (100–300 ई.) इत्यादि स्मृतिकारों ने पुत्र आदि उत्तराधिकारियों के अभाव में विधवा को पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बताया है धीरे–धीरे यही परम्परा पूर्व मध्यकाल तक विकसित होती चली गयी और अन्ततः उसे स्वतन्त्र रूप से पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी स्वीकार कर लिया गया था।

विवेच्यकालीन स्मृतियों एवं उनके टीकाकारों द्वारा विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व को समर्थन प्रदान किया जाने लगा था। शंख स्मृति (600–900 ई.) में संतानहीन मृतक के पुत्र एवं माता–पिता के अभाव में उसकी विधवा को सम्पत्ति की अधिकारिणी बताया गया है। देवल स्मृति (600–900 ई.) में भी मृतक की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भाई, पिता,

एवं माता के उपरान्त उसकी विधवा को माना गया है।

वृद्धमनु पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली पुत्रहीन विधवा को पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी मानते हैं। व्यास एवं श्रीधर के अनुसार यदि मृतक की सम्पत्ति कम है तभी विधवा उसकी अधिकारिणी बन सकती थी अन्यथा उसे मात्र भरण–पोषण का अधिकार मिलता था। वृद्धविष्णु ने बिना किसी शर्त के विधवा पत्नी को उत्तराधिकार के वरीयता क्रम में प्रथम स्थान पर बताया है। प्रजापति के अनुसार विधवा के धन को नुकसान पहुँचाने वाले को राजा द्वारा दण्डित करना चाहिए। विधवा के साम्पत्तिक अधिकारों का समर्थन हारीत द्वारा भी किया गया है।

मेधातिथि, विश्वरूप एवं धारेश्वर भोज विधवा को सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं मानते थे। वे विधवा द्वारा नियोग से उत्पन्न पुत्र को मृतक की सम्पत्ति का अधिकारी मानते थे, और विधवा को मात्र भरण – पोषण के लिए धन देने के पक्षधर थे। विवेचकाल के मेधातिथि, विश्वरूप आदि स्मृतियों के टीकाकारों ने पुत्रवती अथवा संभावित पुत्र वाली विधवा को ही दायाद मानते थे।

विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकार का ग्यारहवी–बारहवी शती ई. में विज्ञानेश्वर (1080–1100 ई.) एवं जीमूतवाहन (1090–1130 ई.) द्वारा समर्थन किये जाने से इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। विज्ञानेश्वर निःसन्तान, विभक्त एवं असन्तुष्ट पुरुष के मरणोपरान्त उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी विधवा पत्नी को मानते थे। विज्ञानेश्वर से पूर्व विधवाएं मात्र रिक्थहर की अधिकारिणी मानी जाती थी। विज्ञानेश्वर ने संयुक्त एवं विभक्त दोनों परिवारों में मृतक की विधवा को मृतक की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी माना था। विधवा के पास स्त्रीधन होने या न होने दोनो परिस्थितियों में भी विधवा को पुत्रों

के समान ही सम्पत्ति का दायाधिकारिणी मानते थे।

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार अपरार्क (1110–1300 ई.) सन्तानहीन विधवा को मृत पति की सम्पत्ति का अंशहर उत्तराधिकारिणी मानते थे, ये विधवा को प्राप्त सम्पत्ति एवं स्त्रीधन को मिलकार दो या तीन हजार स्वर्ण पण से अधिक धन का उत्तराधिकारिणी नहीं मानते थे। मनु के टीकाकार कुल्लूक (1150–1300 ई.) ने भी विधवा को मृतक की सम्पत्ति का उत्तराधिकारिणी माना है। इनके अनुसार उसके जीवित रहते अन्य कोई सकुल्य व्यक्ति सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता था। इनके अनुसार भरण पोषण का अधिकार मात्र रखैल के लिए था, विधवा पत्नी सम्पूर्ण सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी।

विधवाओं के साम्पत्तिक अधिकार को जीमूतवाहन (1090–1130ई.) ने अधिक विकसित एवं स्पष्ट रूप से बताया है। जीमूतवाहन विधवा के साम्पत्तिक अधिकार के अन्तर्गत चल एवं अचल दोनों सम्पत्ति को मानते हैं। जीमूतवाहन यद्यपि विधवा के सम्पत्ति पर स्वत्व को स्वीकार करते हैं किन्तु उसमें विनियोग का अधिकार उसे नहीं प्रदान करते हैं।

स्मृतियों एवं उनकी टीकाओं के अतिरिक्त इस काल खण्ड के कुछ पुराणों में भी विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व का उल्लेख मिलता है। इनमें अग्निपुराण (600–900 ई.) में निःसन्तान व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात उसकी विधवा पत्नी, पुत्री, माता–पिता, भाई भातृपुत्र संगोज, बन्धु, शिष्य आदि को क्रमशः दायाद बताया गया है। इस पुराण में अल्पवयस्क पुत्रवती विधवा जो अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा करने में असमर्थ होती थी, को राजा द्वारा सुरक्षा प्रदान किये जाने का विवेचन मिलता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि दसवी से बारहवीं शती ई. तक पुत्रवती एवं पुत्रहीन दोनों प्रकार की विधवाओं

को मृतपति की चल एवं अचल सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त हो चुका था।

यद्यपि विधवा को पूर्ण साम्पत्तिक स्वत्व प्राप्त हो चुका था, किन्तु यह अधिकार सिर्फ पतिव्रता धर्म का पालन करने वाली साध्वी विधवा को ही था, जो वास्तविक अर्थों में उसकी पत्नी थी, रखैलों को नहीं। यदि मृतक की कई पत्नियाँ होती थी, तो उन सबको बराबर बराबर भाग प्राप्त होता था। विज्ञानेश्वर के अनुसार इनमें से किसी एक के मरने पर पुनः सभी विधवाएं आपस में सम्पत्ति का बंटवारा कर लेती थी। विधवा स्त्री को यद्यपि तत्कालीन स्मृति टीकाकारों एवं पुराणों द्वारा साम्पत्तिक अधिकार प्रदान कर दिया गया था, किन्तु यह अधिकार जीवन पर्यन्त ही उसके उपभोग के लिए था, वह सामान्यतः उसका विनियोग स्वतन्त्ररूप से नहीं कर सकती थी, इसके लिए उसे परिवार के स्वजनों से अनुमति लेनी आवश्यक थी। विधवा सम्पत्ति को विक्रय एवं गिरवी मृत पति के प्रेत–कर्म एवं पुण्य–वृद्धि आदि के लिए ही कर सकती थी। कात्यायन, विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन इत्यादि ने विशेष परिस्थितियों में विधवा को सम्पत्ति के क्रय–विक्रय एवं गिरवी रखने का भी अधिकार प्रदान किया है। यशःपाल कृत मोहराज–पराजय (13वी शती ई. का प्रथमार्ध) नामक नाटक के अनुसार राजा की यह इच्छा होती थी कि धनी व्यक्ति निःसन्तान मरे ताकि उसका धन राजकोष में सम्मिलित किया जा सके। कुमारपाल प्रतिबोध नामक नाटक में गुजरात के राजा कुमारपाल द्वारा विधवाओं की सम्पत्ति को मुक्त करने की प्रशंसा की गयी है। कुमारपाल ने (11–12 वीं शती ई.) विधवाओं को जीवनपर्यन्त सम्पत्ति का पूर्ण उत्तराधिकार प्रदान कर दिया था। कथासरित्सागर में भी चरित्रवती विधवा को मृत पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया गया है।

विधवा के साम्पत्कि अधिकार के सम्बन्ध में ग्यारहवी शती ई. में भारत आये विदेशी इतिहासकार अल्बरूनी बताते हैं कि निःसन्तान मृतक की सम्पत्ति को राज्य द्वारा अपहृत

कर लिया जाता था एवं विधवा को भरण-पोषण के लिए ही धन दिया जाता था। परन्तु उसके अनुसार तत्कालीन समाज में ब्राह्मण विधवाओं के साथ उदारता बरती जाती थी एवं उन्हें मृतक पति का साम्पत्तिक स्वत्व भी प्रदान कर दिया जाता था।

पति की सम्पत्ति के अतिरिक्त विधवाओं के पास उनका स्त्रीधन भी था, जो उन्हें विवाह के अवसर पर स्नेहवश स्वजनों से प्राप्त होता था। जीमूतवाहन के अनुसार स्त्रीधन पर विधवा का पूर्ण स्वामित्व होता था, वह इसका अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकती थी।

शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में विधवा के पुनर्विवाह एवं नियोग का परीक्षण किया गया है। पुनर्विवाह से तात्पर्य स्त्री के वैधव्य के पश्चात् अन्य पुरूष द्वारा फिर से पत्नी बनाने से है। यहाँ पर पुनर्विवाह से तात्पर्य क्षतयोनि एवं अक्षतयोनि दोनों प्रकार की विधवाओं से है। धर्मशास्त्र ग्रन्थों में पुनर्विवाहिता स्त्री को पुनर्भू कहा गया है।

प्राचीनकाल में समाज में विधवा-विवाह धर्मसम्मत था, किन्तु विवेच्यकाल में इसका प्रचलन काफी कम हो गया । कलियुग के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण समझी जाने वाली पराशर स्मृति (लगभग 600-900 ई0) में पांच प्रकार के आपत्तिकाल (पति के खो जाने, मरने, संन्यासी हो जाने, नपुंसक होने या पतित हो जाने पर) में विधवा के पुनर्विवाह का विधान मिलता है। इस स्मृति में आपत्तिकाल में विधवा के पुनर्विवाह को मान्यता दी गयी है, लेकिन सामान्य परिस्थितियों में इसे धर्म-सम्मत नहीं माना गया है।

700-1200 ई0 के मध्य विधवा-विवाह का प्रचलन काफी कम हो गया था। यद्यपि उच्चवर्गीय समाज में इसका प्रचलन काफी कम हो गया था, पर यह प्रथा निम्नवर्ग में इस काल खण्ड में भी प्रचलन में रही होगी। श्रीधर के स्मृत्यर्थसार में मिलता है कि कुछ धर्मशास्त्रकारों के अनुसार किन्हीं विशेष परिस्थितियों में विधवा का पुनर्विवाह हो सकता

था। इस काल में अंगिरस स्मृति, व्यास स्मृति, लघुआश्वलायन स्मृति एवं मनु के टीकाकार मेघातिथि भी विधवा पुनर्विवाह के विरोधी थे।

आदित्य पुराण एवं ब्रह्म पुराण में विधवा-विवाह को कलिवर्ज्य (कलियुग के लिए निषिद्ध) बताया गया है। वामन, वृहन्नारदीय तथा कुछ अन्य पुराणों में भी इसकी निन्दा की गयी है। अल्बरूनी के विवरण से भी यह संकेत मिलता है कि प्रायः विधवा पुनर्विवाह नहीं होता था।

प्राचीनकाल के धर्मशास्त्र ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि उस समय नियोग प्रथा का प्रचलन था। नियोग से तात्पर्य है, किसी नियुक्त पुरूष के सम्भोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति के लिए पत्नी या विधवा की नियुक्ति। जिस व्यक्ति से इस प्रकार विधवा का नियोग सम्बन्ध होता था, वह देवर, सपिण्ड, सगोत्र, सप्रवर या अपनी जाति का व्यक्ति हो सकता था। पूर्वमध्यकाल तक विधवा को पति की सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हो गया था। अतः अब नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करके, पति की सम्पत्ति प्राप्त करने की आवश्यकता भी समाप्त हो गयी थी। पूर्वमध्यकालीन स्मृतियों, कुछ धर्मशास्त्र ग्रन्थों एवं उनके टीकाकारों द्वारा इसे कलिवर्ज्य विषय के अन्तर्गत रखा गया था।

शोध प्रबन्ध के पंचम अध्याय में सती-प्रथा का अनुशीलन किया गया है। सती शब्द का अर्थ, पति-परायणा साध्वी स्त्री से है। अमरकोश में सती शब्द का अर्थ एक सच्चरित्र और पवित्र स्त्री को बताया गया है। मत्स्य पुराण में सती को आदि शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है। सती शब्द का प्रयोग दाह के सम्बन्ध में सर्वप्रथम शिव पुराण में शिव की पत्नी के लिए किया गया है। कालान्तर में इसी आधार पर सती शब्द उन स्त्रियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा, जो पतिव्रत धर्म का पालन करती थी तथा अपने पति के

मृत्योपरान्त, उसके शव के साथ स्वयं को जला देती थी।

सती होने के लिए प्राचीन भारतीय साहित्य में सहगमन, सहमरण, अन्वारोहण एवं अनुमरण आदि शब्द भी मिलते हैं। सती की अवधारणा अपने पति के प्रति त्याग, अनुराग एवं बलिदान के परिप्रेक्ष्य में थी। इस प्रकार प्रारम्भ में यह प्रथा राजपरिवारों तक सीमित थी, क्योंकि युद्ध में विजयी राजा, पराजित राजाओं की पत्नियों को बन्दी बनाकर, उनसे दासियों की भाँति व्यवहार करते थे, ऐसे दुर्व्यवहार से बचने के लिए स्त्रियां सती हो जाया करती थी।

पूर्व मध्यकाल तक सती प्रथा समाज में काफी हद तक प्रचलन में आ चुकी थी। 700 से 1100 ई. में उत्तर भारत के राजपूताना एवं कश्मीर में सती-प्रथा पूर्णतया प्रचलित हो गयी थी। इस काल खण्ड में इसके प्रचलन का कारण, योद्धा वर्ग में मृत्योपरान्त अपनी पत्नियों की मान-मर्यादा एवं असुरक्षा से सुरक्षित रखना था। राजपूतों में सम्भवतः विदेशी आक्रमणों एवं काश्मीर में सामंती संघर्ष और सत्ता की लालच ने इस प्रथा को बढ़ावा दिया। सती के इस काल में प्रचलन का एक अन्य कारण धार्मिक दृष्टिकोण था, जिसके अनुसार एक विधवा स्त्री सती होकर, अपने पति के पापों को समाप्त कर, उसे स्वर्ग तक पहुँचा सकती थी, जहाँ वह अपनी पत्नी के साथ चिर काल तक सुखी रह सकता था। सती प्रथा के प्रचलन में आर्थिक कारण भी उत्तरदायी थे, क्योंकि इस काल तक विधवा को सम्पत्ति का अधिकार मिल गया था, और बंटवारे को सीमित करके धन प्राप्त करने की लालसा ने भी इसके प्रचलन में सहयोग किया।

जब तक विधवाओं को सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त नहीं था, तब तक उनसे छुटकारा पाये जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी, लेकिन जैसे-जैसे उनके सम्पत्ति के अधिकार में वृद्धि

हुई, वैसे-वैसे सती प्रथा का प्रचलन बढ़ा।

ईसा की प्रथम शती तक यह प्रथा समाज में प्रचलित नहीं थी। मनु, याज्ञवल्क्य आदि प्राचीन स्मृतिकारों ने विधवाओं के सम्बन्ध में नियमों का उल्लेख किया है, किन्तु सती प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। पर महाभारत के आदि पर्व में राजा पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी माद्री के सती होने का उल्लेख मिलता है। आठवीं शती ई0 के बाद के स्मृतिकार सती प्रथा का समर्थन करते हैं। इनमें वृद्धहारीत, अंगिरस, पराशर, व्यास एवं दक्ष प्रमुख हैं। इन स्मृतियों में विधवाओं के लिए ब्रह्मचर्य की अपेक्षा सती होने को अधिक श्रेयष्कर माना गया है।

स्मृतियों की टीकाओं से भी सती प्रथा की जानकारी मिलती है। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर के अनुसार सती होने वाली स्त्री अपने माता-पिता एवं पति, तीनों कुलों को पवित्र करती है। यह प्रथा समस्त वर्णों द्वारा अनुसरणीय बतायी गयी है। अपरार्क भी विधवा के सती होने की प्रशंसा करते हैं। लक्ष्मीधर कृत्यकल्पतरू में लिखते हैं कि-पति की मृत्यु के पश्चात् उसके वियोग को शान्त करने का उपाय सती होना है। पराशर स्मृति के भाष्य पराशर माधवीय के अनुसार, सती होने वाली स्त्री स्वर्ग की अधिकारिणी होती है।

विवेच्यकालीन पुराणों में भी सती से सम्बन्धित कुछ उद्धरण मिलते हैं, जिनमें वायु पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, मत्स्य पुराण, ब्रह्म पुराण एवं वृहन्नारदीय पुराण उल्लेखनीय है। इन पुराणों में उल्लिखित वर्णनों से तत्कालीन समाज में सती प्रथा के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है। ब्रह्म पुराण में उल्लिखित है कि यदि पति कहीं विदेश में मृत हो जाये तो पत्नी को उसकी चरण पादुका के साथ सती हो जाना चाहिए। यद्यपि सती होने का वर्णन पुराणों

प्रचलन के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी कल्हण की राजतरंगिणी से मिलती है। इस ग्रंथ में सती का प्रथम उदाहरण राजा तुंजीन के मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी वाक्पुष्टा देवी के सती होने का माना जाता है। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्रवती, त्रैलौक्यदेवी, सूर्यमती, मम्मनिका आदि के सती होने के उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रंथ में पत्नी के अतिरिक्त प्रेमवश एवं स्वामिभक्ति प्रदर्शित करने के लिए मृत राजा एवं उनकी रानी के साथ उनके माँ, बहन, दास-दासियां, सेनापति, मंत्री आदि के अनुमरण की भी जानकारी मिलती है। कथासरित्सागर में भी सती होने के उल्लेख मिलते हैं।

राजस्थान, मध्य प्रदेश, बंगाल, उड़ीसा आदि क्षेत्रों के उत्तर भारत के कुछ अभिलेखों में भी सती होने के उल्लेख मिलते हैं, जो इस प्रथा के विस्तृत प्रचलन के द्योतक है। पूर्व मध्यकाल में आये विदेशी यात्रियों के विवरणों में अल्बरूनी का विवरण बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे भी सती प्रथा के प्रचलन के बारे में जानकारी मिलती है।

कुछ ग्रन्थों उदाहरणार्थ पद्मपुराण में सती होने की पद्धति का भी उल्लेख मिलता है।

सती प्रथा के विस्तृत प्रचलन पर प्रकाश डालने वाले उल्लेख विवेच्यकाल के साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों में मिलते हैं, फिर भी हम देखते हैं कि यह प्रथा सर्वमान्य नहीं थी। बाणभट्ट, मेधातिथि एवं देवण्णभट्ट ने इसका विरोध किया था। बाणभट्ट ने इसे मूर्खों द्वारा अपनायी जाने वाली प्रथा कह कर इसकी निन्दा की है। मेधातिथि के अनुसार सती होने की अपेक्षा एक विधवा का जीवित रहकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना अधिक श्रेयस्कर है। देवण्णभट्ट के अनुसार सती प्रथा जघन्य कृत्य है, और इसे मान्यता नहीं दी जानी चाहिए।

□□

चयनित स्रोत-सूची

चयनित स्त्रोत-सूची

मूल स्त्रोत

मूल स्त्रोत ग्रन्थ

अग्नि पुराण,	आनन्दाश्रम, पूना, 1900; (अनु०) एम० एन० दत्त, कलकत्ता, 1903.
अभिधानि चिन्तामणि,	हेमचन्द्र कृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, दिल्ली.
अभिज्ञान शाकुन्तलम्,	कालिदास कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1916.
अथर्ववेद	(सं०) आर० राय तथा डब्लू० डी० ह्विटने, बर्लिन, 1856; सायण भाष्य सहित (सं०) एस० पी० पंडित, बम्बई, 1895-98.
अपरार्क,	याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1903-04.
अमरकोश,	अमर सिंह कृत (नामालिंगानुशासन, क्षीर स्वामी की टीका सहित) (सं०) हरदत्त शर्मा एवं एन० जी० सरदेसाई, पूना, 1947.
अर्थशास्त्र,	(सं०) आर० राम शास्त्री, मैसूर, 1919; (सं व अनु०) आर० पी० कांगले, मुम्बई, 1969.
अष्टाध्यायी,	पाणिनी कृत, निर्णय सागरप्रेस, 1929.
अत्रिस्मृति,	(स्मृतिनाम समुच्चय) आनन्दाश्रम, पूना, 1905.
आदि पुराण,	(सं०) पी० एल० जैन, वाराणसी, 1963.
आपस्तम्ब धर्मसूत्र,	हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1969.
आपस्तम्ब स्मृति,	(स्मृतिनाम समुच्चय) आनन्दाश्रम, पूना, 1929.

अंगिरा स्मृति,	(स्मृतिनाम समुच्चय) आनन्दाश्रम, पूना, 1929.
ऋग्वेद,	(जिल्द 1-4) (सं०) वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, 1933; सायण भाष्य सहित (सं०) लक्ष्मण स्वरूप, वाराणसी, 1939.
कथासरित्सागर,	सोमदेव कृत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (दो भाग) 1960, (अनु०) टॉयनबी, द ओशन ऑव स्टोरीज, जे० सायर लि० लन्दन.
कर्पूरमंञ्जरी,	राजशेखर कृत (सं०) रामकुमार आचार्य, वाराणसी, 1955.
कात्यायन स्मृति,	(सं०) नारायण चन्द्र वंद्योपाध्याय, कलकत्ता, 1917.
कादम्बरी,	बाणभट्ट कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1910.
कामसूत्र,	वात्स्यायन कृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1929।
किरातार्जुनीयम्	भारवि कृत, (सं) जे. विद्यासागर, कलकत्ता, 1875 टी. आर. एल. आर. पंगारकर, बाम्बे, 1902.
कुमारपाल-प्रतिबोध,	सोमप्रभ कृत, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ोदा, 1920.
कुमारसंभव,	कालिदास कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1893.
कुट्टनीमत्तम्,	दामोदरगुप्त कृत, वाराणसी, 1961.
कुमारपालचरित,	हेमचन्द्र कृत, पूना, 1926।
कुवलयमाला,	(सं०) डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याये, भारतीय विद्या भवन, चौपाटी, मुम्बई, 1970.
कृत्यकल्पतरु,	लक्ष्मीधर कृत (सं०) के० बी० आर० आयंगर, बड़ौदा, 1931-53.
गरुड़ पुराण,	(सं०) खेमराज, श्रीकृष्णदास, बम्बई, 1906.
गौतम-धर्मसूत्र,	(हरदत्त की टीका सहित) आनन्दाश्रम, पूना, 1910.

जातक — (सं०) फॉसबोल, 7 जिल्द, लन्दन, 1877-97; कावेल के सम्पादन में अनेक विद्वानों द्वारा अनूदित, कैम्ब्रिज 1895-1907.

तैत्तरीय अरण्यक, — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, 1926.

तैत्तरीय संहिता, — श्रीपाद शर्मा, औधनगर, कलकत्ता 1845.

दशकुमार चरित, — दण्डीकृत, जी ब्यूहलर, बम्बई, 1887

देवल स्मृति, — आनन्दाश्रम, पूना, 1929.

देवी भागवत पुराण, — विब्लियोथिका इंडिका, 1903

देशोपदेश, — क्षेमेन्द्र कृत, पूना, 1923.

दायभाग, — जीमूतवाहन कृत (सं०) जीवानन्द, कलकत्ता, 1893 (सं०) ए० सुब्रह्मण्यम शास्त्री मोती लाल बनारसी दास, वाराणसी, 1982.

नागानन्दम्, — श्रीहर्ष कृत, वाराणसी, 1947.

निरुक्त, — यास्क, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1929.

निशीथचूर्णी, — जिन्दास गनी, आगरा, 1957-60.

पद्मपुराण, — आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, पूना, 1893-94.

पराशर स्मृति, — (व्या०) गुरुप्रसाद शर्मा, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1998.

पराशर माधवीय, — पराशर स्मृति पर माधवाचार्य की टीका, संस्कृत सीरीज, पूना 1893-1911.

प्रियदर्शिका, — (सं०) वी० डी० गाड्रे, बाम्बे, 1884, मद्रास, 1935.

पृथ्वीराज विजय — जयानक कृत, महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीराचन्द्र ओझा, एवं सी० गुलेरी, वेदिक यन्त्रालय, अजमेर 1941.

बृहज्जातक, — वराहमिहिर कृत, भट्टोत्पल कृत भाष्य सहित, (सं०) सीताराम झा, बनारस, 1934.

बृहत्संहिता — वराहमिहिर कृत चौखम्भा विद्या भवन, चौक, वाराणसी, 1968.

वृहन्नारदीय पुराण — (सं०) पी० हरीकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता, 1891.

वृहस्पति स्मृति — सेक्रेड बुक ऑव द ईस्ट, आक्सफोर्ड, 188९; गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, 1941.

ब्रह्म पुराण — गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, 1941.

ब्रह्मवैवर्त पुराण — संस्कृति संस्थान, बरेली, 1978.

ब्रह्माण्ड पुराण — कलकत्ता, सं० 2009.

बृद्धहारीत स्मृति — (स्मृतिनाम् समुच्चय) संस्कृत सीरीज, पूना, 1929.

बौधायन धर्मसूत्र — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1905.

बौधायन स्मृति — (स्मृतिनाम् समुच्चय) संस्कृत सीरीज, पूना, 1905.

भागवत पुराण — दो खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर.

मत्स्य पुराण — आनन्दाश्रम, पूना, 1907.

मनुस्मृति — (सं०) गंगानाथ झा, कलकत्ता, 1937

भारुचिस कमेंटरी आन दि मनुस्मृति (सं० व अनु०) जे० डी० एम० डेरेट, जिल्द 1 (मूल) एवं 2 (अंग्रेजी अनुवाद) वीसबेडेन, 1975

मेधातिथि की टीका सहित, कलकत्ता, 1932.

कुल्लूक भट्ट प्रणीत मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित (व्या) हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 2001.

(विभिन्न टीकाओं सहित) (सं०) बी० एन० मांडलिक, बम्बई, 1886.

महाभारत,	नीलकण्ठ की टीका सहित (सं०) आर० किंजवाडेकर, पूना, 1923-33;
	गीता प्रेस सं० (हि० अनु० सहित) गोरखपुर, 1968.
मालविकाग्निमित्र,	कालिदास कृत, बम्बई संस्कृत सीरीज, 1889.
मैत्रायणी संहिता,	(सं०) लिओपोल्ड, फान, श्रोएडर, लीपजिंग, 1881.
मृच्छकटिकम्,	शूद्रक कृत, निर्णय सागरप्रेस, बम्बई, 1910.
मोहराजपराजय,	यशःपाल कृत, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, 1810.
मिताक्षरा,	विज्ञानेश्वर कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1909; सेक्रेड बुक ऑफ द हिन्दू, इलाहाबाद, 1918.
याज्ञवल्क्य स्मृति	विश्वरूप की टीका सहित, त्रिवेन्द्रम, 1922-24.
	अपरार्क की टीका सहित, आनन्दाश्रम, पूना, 1903-04.
	(व्या०) गंगासागर राय (विज्ञानेश्वर, विश्वरूप, अपरार्क टीका सहित) चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित 2002.
राजतरंगिणी	कल्हण कृत (व्या०) रामतेजशास्त्री पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1985.
	(व्या०) रघुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचार संस्थान, वाराणसी, 1973.
रत्नावली,	हर्ष कृत, मद्रास, 1935.
लघु शातातप स्मृति	(स्मृतिनाम् समुच्चय) (सं०) विनय गणेश आप्टे, पूना, 1935.
लघु आश्वलायन स्मृति,	(स्मृतिनाम् समुच्चय) आनन्दाश्रम, पूना, 1905-06.
वसिष्ठ स्मृति	(स्मृतिनाम् समुच्चय) (सं०) विनय गणेश आप्टे, पूना, 1935.
वसिष्ठ धर्मसूत्र,	(अनु०) जी० ब्यूहलर द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, आक्सफोर्ड, 1879-82.

वायु पुराण	आनन्दाश्रम, पूना, 1905.
वामनपुराण,	(सं०) वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1929.
	सर्वभारती काशीराज न्यास सहित; वाराणसी, 1968.
विष्णु धर्मसूत्र	(सं०) जे० जाली, कलकत्ता, 1881.
विष्णु पुराण	गीताप्रेस, गोरखपुर.
विक्रमांकदेव चरित	विल्हणकृत, बम्बई, 1875.
वेणीसंहार	(सं०) जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, 1875.
वैजयन्तीकोश	यादव प्रकाशकृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1971.
विष्णु स्मृति	(स्मृतिनाम् समुच्चय) संस्कृत सीरीज, पूना, 1929.
शब्द-स्तोम-महानिधि	(सं०) तारानन्द भट्टाचार्य, चौखम्भा, वाराणसी, 1967.
शाश्वत कोश	(सं०) नारायण नाथ कुलकर्णी, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, 1929.
शिव पुराण	(सं०) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.
स्कन्द पुराण	(सं०) मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1961.
स्मृति चन्द्रिका	देवणभट्ट कृत मैसूर, 1914-20.
स्मृतिमुक्ताफल	वैद्यनाथ दीक्षित कृत (सं०) जे० आर० धारपुरे, बम्बई, 1937-38.
समराइच्चकहा	हरिवर्धनसूरी कृत, (सं०) एच० जेकोबी, कलकत्ता, 1926.
सायण भाष्य सहित	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना.
सुबोधिनी,	मिताक्षरा पर विश्वेश्वर भट्ट की टीका (अनु०) जी० आर० धारपुरे, पूना, 1930.
हलायुध कोश,	(सं०) जयशंकर जोशी, सूचना विभाग, उ० प्र०, 1962.

हर्षचरित, बाणभट्ट कृत (अनु०) कावेल और टामस, 1897.

हिन्दू धर्मकोश, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, प्रज्ञा पाठशाला, मंडल सतारा, 1938.

विदेशी विवरण

इलियट एच० एम० डाउसन, जे० हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एस रोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टारियन, किताब महल, इलाहाबाद.

गिल्स एच० ए० द ट्रेवेल्स ऑफ फाह्यान आन रिकार्ड्स ऑफ बुद्धिष्ट किंग्डम, कैम्ब्रिज, 1923.

नदवी अरब और भारत का सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, 1930.

पुरी वी० एन० इण्डिया एस डिस्क्राइव्ड बाई अर्ली 'ग्रीक राइटर्स, द इंडियन प्रेस लि० इलाहाबाद, 1939.

मैक्रिडंल जे० डब्ल्यू (अनु०) एन्शिएण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइव्ड बॉय मेगस्थनीज एण्ड एरियन, लन्दन, 1877 (वि०).

वाटर्स थामस ऑन युवानच्वागंस ट्रेवल्स इन इण्डिया (भाग 2) लन्दन 1904-05.

साचौ ई० सी० अल्बेरूनीज इण्डिया, भाग 1 एवं 2, लन्दन, 1914.

अभिलेख

आचार्य, सी० वी० हिस्टॉरिकल इन्स्क्रिप्शन ऑफ गुजरात, बम्बई.

फ्लीट, जे० एफ० कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम, भाग 3, 4, वाराणसी 1970.

व्यास, श्यामा प्रसाद राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन (7-12 शती ई०) जोधपुर, 1986.

व्यास, मांगीलाल — राजस्थान के अभिलेख राजस्थान साहित्य मन्दिर जोधपुर, 1984

शर्मा नीलकमल, गहलोत सुखबीर सिंह, पुरोहित सोहन कृष्ण — राजस्थान के प्रमुख अभिलेख, हिन्दी साहित्य मंदिर जोधपुर, 1987

सरकार, डी० सी० — सेलेक्टेड इन्स्क्रिप्शन्स, कलकत्ता, 1942

स्मिथ, बी० ए० — कैटलाग आफ द क्वायन्स इन द इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, जिल्द 1.

शोध पत्रिकाएं, प्रोसीडिंग्स एवं रिपोर्ट्स

आर्किअलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट.

आर्किअलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया.

इण्डियन आर्किआलॉजिकल ए रिव्यू.

इण्टरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज (जिल्द 1-17).

मैकमिलन कंपनी और फ्री प्रेस, 1968.

इण्डियन एंटीक्वेरी.

इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द 13.

जे० हेस्टिंग्स, न्यूयार्क, 1908.

इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली.

एपिग्राफिया इण्डिका.

एन्वल रिपोर्ट, आफ राजपूताना म्यूजियम, अजमेर.

एनाल्स-ऑफ भण्डारकर, ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट.

ए० के० फोब्स, हिन्दू एनल्स ऑव वेस्टर्न इण्डिया.

कार्प्स इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेरम्.

जर्नल ऑफ इण्डियन कल्चर.

जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल.

जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च, सोसाइटी.

जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ बाम्बे.

जर्नल आफ दि गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ.

प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दि आर्कियालाजिक सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल.

सहायक स्त्रोत : आधुनिक शोध ग्रन्थ

अठवाले, पार्वती	हिन्दू विडोज, पुनर्मुद्रण जस्टिन एवोट डी डी प्रकाशक ए० के० भाटिया 1996
अल्तेकर, ए० एस०	द पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिकेशर्स, बनारस 1959.
अग्रवाल, वासुदेव शरण	हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना, 1964.
आयंगर, के० व्ही० आर०	ऐसपेक्ट्स आफ द सोशल एण्ड पोलिटिकल सिस्टम आफ मनुस्मृति, लखनऊ, 1949.
आहूजा, मुकेश	विडो, विश्वा प्रकाशन, 1993.
आर्य, भारती	स्मृतियों में नारी, विश्व भारती अनुसन्धान परिषद्, वाराणसी 1989.
इन्द्रा, एम० ए०	द स्टेट्स ऑफ वूमेन इन एन्शिएण्ट इण्डिया बनारस, मोतीलाल और बनारसीदास पब्लिशर्स बनारस 1955.
उपाध्याय, गंगाप्रसाद	विधवा-विवाह-मीमांसा, प्रकाशक चाँद कार्यालय, इलाहाबाद, 1929.

उपाध्याय, वी०	द सोशियो-रिलिजियस कन्डीशन्स आफ द नार्थ इण्डिया (700-1200 A.D.) वाराणसी 1964.
कपाड़िया के० एम०	मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, बाम्बे, 1955.
काणे, पाण्डुरंग वामन	धर्मशास्त्र का इतिहास अनु० अर्जुन चौबे, काश्यप, उ० प्र० हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग) राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन लखनऊ, प्रथम भाग 1963, द्वितीय भाग 1965.
किट्लू, टी० एन०	विडो इन इण्डिया, आशीष पब्लिकेशन हाउस न्यू देलही.
को० अ० अंतोनोवा ग्रि० म० बोगर्दलेविन ग्रि० ग्रि० कोतोव्स्की	भारत का इतिहास, मास्को अनु० नरेश बेदी, प्रगति प्रकाशन 1984 ई० पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा० लिमिटेड रानी झांसी रोड नई दिल्ली.
कूजूर, एस	वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1982.
गुजराती, बी० एस०	विमिन ऑफ द ईस्ट एण्ड वेस्ट, लाहौर, 1944.
गोयल, एस० आर०	कौटिल्य एण्ड मेगस्थनीज, मेरठ, 1975.
गोकुल चन्द्र	नारी महत्व, एंग्लो संस्कृत प्रेस, लाहौर.
गिडुमल, दयाराम	स्टेट्स आफ विमिन इन इण्डिया, प्रकाशन, पब्लिकेशन्स इण्डिया, न्यू दिल्ली.
घोषाल, यू० एन०	ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, 1945.
	स्टडीज इन एन्श्येन्ट हिस्ट्री एण्ड कल्चर, कलकत्ता, 1917.
चौधरी, वाई० वी०	विमिन इन द वेदिक रिचुअल्स, प्राच्यवाणी मन्दिर कलकत्ता, 1956.

(35) चौबे और श्रीवास्तव — मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति लखनऊ, 1979.

चौधरी, रूप लाल — हिन्दू विमिन राइट टू प्रापर्टी (पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट) कलकत्ता, 1959.

चौधरी, पी० के० — हिस्ट्री ऑव बिहार, वाराणसी, 1958.

चक्रवर्ती, उमा — आइडियोलॉजिकल एड मटिरियल स्ट्रक्चर आफ विडोवुड.

चट्टोपाध्याय, एस० — सोशल लाइफ इन एन्शियेण्ट इंडिया, कलकत्ता, 1923.

चौधरी, पी० सी० — हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन आफ द पीपुल आफ असम अप टू ट्वल्थ सेन्चुरी ए० डी० गौहाटी, 1966.

जैन जगदीश चन्द्र — प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा, वाराणसी, 1969.

जोशी, एम० सी० — प्रिन्सेज एण्ड पालिटी इन एन्शियेण्ट इण्डिया, मेरठ, 1986.

मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930.

जाली, जे० — हिन्दू लॉ एंड कस्टम्स, कलकत्ता, 1928.

सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट, XXXIII

झा, गंगानाथ — हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज (भाग 1-2)

टॉड, जेम्स — एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान, लन्दन, 1920, इण्डियन प्रेस प्रयाग 1930-33.

डुवोइस, जे० ए० — हिन्दू मैनर्स कस्टम्स एण्ड सेरेमनीज, (अं० अनु०) हेनरी, के० वी० आक्सफोर्ड, 1897.

झा० जी० — मनुस्मृति, कलकत्ता, 1920-21.

तिवारी, डी० पी० — प्राचीन भारत में विधवायें, तरुण प्रकाशन, लखनऊ, 1994

त्रिपाठी, जी० एम० — मैरेज फ्राम अंडर एन्श्येन्ट हिन्दू लॉ पृ० 7

ठाकुर, लक्ष्मीदत्त — प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ 1965.

ड्राइफौ एण्ड श्चेडर	प्रि हिस्टॉरिक एन्टीक्विरीज ऑव दि आर्यन् पीपुल, 1890.
थापर, रोमिला	एन्श्येंट इण्डियन सोशल हिस्ट्री, नई दिल्ली, 1978.
थामस, ई०	द सती, लन्दन, 1928.
थामस, पी०	विमिन एण्ड मैरिज इन इंडिया, लंदन, 1939.
	इंडियन विमिन थ्रू द एजेज, बम्बई, 1964.
दत्त, एन० एन०	विडो इन एन्श्येन्ट इण्डिया, लाहौर, 1940.
दत्त, एम० एन०	स्टेट्स ऑफ विमिन, कलकत्ता, 1937.
दत्त, आर० सी०	ए हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, दिल्ली, 1972.
दत्त, भूपेन्द्र नाथ	स्टडीज इन इंडियन सोशल पालिटी कलकत्ता 1944.
दत्त, मन्मथनाथ	मनुसंहिता कलकत्ता, 1929.
दयाराम, जी०	स्टेट्स ऑफ विमिन इन इण्डिया, बम्बई, 1939.
दास, राममोहन	क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट इन एन्श्येण्ट इण्डिया कंचन पब्लिकेशन, बोधगया, प्र० स० 1982.
	मनु आफ क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट, जनक प्रकाशन पटना, ब्रान्च, न्यू देहली, प्र० सं० 1987.
दास, शुक्ला	क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट इन एन्श्येन्ट इण्डिया (300 ए० डी० टू 1100 ए० डी०) अभिनव पब्लिकेशन न्यू देलही, प्र० सं० 1977.
दास, आर० एम०	स्टोरी ऑव विडो मैरिज, बम्बई, 1990.
	वीमेन इन मनु एण्ड हिज सेवेन कमेण्टेटर्स, वाराणसी, 1962.

दूबे, एच० एन०	पुराण समीक्षा, इण्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ डेवलपमेण्ट रिसर्च वीराणसी, 1962.
दूबे, सत्यमित्र	मनु की समाज व्यवस्था, किताब महल, इलाहाबाद, 1964.
घारपुरे, जे० आर०	राइट्स आफ विमिन इन एन्श्येण्ट इंडिया, बनारस 1955.
	द कलेक्शन आफ हिन्दू ला टेक्स्ट, बाम्बे, 1944.
	हिन्दू लॉ (अंग्रेजी) बम्बई, 1931.
पराशर, चिरंजी लाल	नारी और समाज, राकेश पब्लिकेशन्स, गाजियाबाद, 1961
पण्डित, सरस्वती रमाबाई	द हाई कास्ट हिन्दू विमिन, इण्टर इण्डिया पब्लिकेशन न्यू देलही.
पाण्डेय, विमल चन्द्र	भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास.
पाण्डेय, राजबलि	(सं०) हिन्दू-धर्मकोश, उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ, उ० प्र०, 1978.
पणिक्कर के० एम०	स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री बम्बई, 1963.
पुरी, वी० एन०	द हिस्ट्री ऑफ गुजरात-प्रतिहारस, बम्बई, 1956.
पवार, किरण	विमिन इन इण्डियन हिस्ट्री, प्रकाशक विजन एण्ड वेंचर पटियाला, दिल्ली.
पाठक, विशुद्धानन्द	उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, द्वि. संस्करण हिन्दी समिति, लखनऊ, 1977.
बिंगले, ए० एच०	हैण्ड बुक आफ राजपूत्स, प्रकाशन, लो प्राइस पब्लिकेशन दिल्ली, पुनर्मुद्रण 1999.
बनर्जी, गुरुदास	हिन्दू लॉ आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, कलकत्ता 1915.

बाशम, ए० एल० — कल्चरल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1925.

अद्भुत भारत अनु० वेंकटेश चन्द्र पाण्डेय, प्रकाशक शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1991 ई०.

बोस, ए० एन० — सोशल एण्ड रूरल इकोनॉमी आफ नार्दन इण्डिया, 2 वाल्यूम, कलकत्ता, 1945.

भाटिया प्रतिपाल — द परमार्स (300-1305) मुंशीराम, मनोहर लाल, नयी दिल्ली

भोज — समराङ्ग सूत्रधार और योगसूत्र संपादक ढुण्डिराज शास्त्री, वाराणसी, 1930.

युक्तिकल्पतरु कलकत्ता ओरियण्टल सीरिज 1917.

भण्डारकर डी० आर० — सम एस्पेक्ट्स आफ एन्शियेण्ट हिन्दू पालिटी बनारस, हिन्दू यूनिवर्सिटी 1963.

मजूमदार, बी० पी० — सोशियो इकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दन इण्डिया कलकत्ता, 1960

मजूमदार, आर० सी० — दि क्लासिकल एज, बाम्बे, तृतीय पुनर्मुद्रण, 1970;

दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पटना, 1971;

दि स्ट्रगल फार द इम्पायर, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, 1970-80

मजूमदार, आर० सी० और पुसाल्कर ए० डी० — द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल्स वाल्यूम I-VI बाम्बे।

मधुसेन — ए कल्चरल स्टडीज आन द निशीथचूर्णी, सोहन लाल जैन प्रचार समिति, 1970

भालवरी, वी० एन० — इन्फैन्ट मैरिज एण्ड इन्फोर्स्ड विडोहुड इन इण्डिया, बम्बई, 1887.

माधवदास रंगनाथ	स्टोरी ऑफ ए विडो रीमैरिज, बम्बई, 1890.
मिश्र, जयशंकर	ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी 1968.
	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 1992.
मित्र, ए० सी०	द हिन्दू ला आफ इन हेरीटेन्स, पार्टीशन स्त्रीधन एण्ड विल्स, कलकत्ता, 1883.
मिराशी, वी० वी०	दि इन्स्क्रिप्शन्स आफ कल्चुरी, चेदि एरा, 1955
मोटवानी, के०	मनु ए स्टडी इन हिन्दू सोशल थ्योरी, मद्रास, 1900.
मंत्री	विधवा-विवाह-प्रश्नोत्तरी, आर्य समाज काशी.
मेयर, जे० जे०	सेक्सुअल लाइफ इन एन्श्येण्ट इंडिया, कलकत्ता, 1952.
मेनन, एन० लक्ष्मी	द पोजीशन आफ विमिन, बाम्बे, 1944.
मेहताब, हरेकृष्ण	हिस्ट्री ऑव ओरीसा, कटक, 1959.
मित्तल, डी० एन०	पोजीशन आफ विमिन इन हिन्दू लॉ कलकत्ता, 1913.
मैक्डोनल, ए० ए० एवं कीथ	वेदिक इन्डेक्स, लन्दन, 1952.
मित्र, टी०	द ला रिलेटिंग टू हिन्दू विडो, कलकत्ता, 1881.
मित्र, शिवशंकर	मनु का धर्मशास्त्र, मद्रास, 1958.
मिश्रा, विनायक	ओरीसा अन्डर दि भौम किंग्स.
मुखर्जी, एस-	इकोनामिक एमिनिसेयेशन आफ विमिन
यादव, प्रो० बी० एन० एस०	सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया इन दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी, ए० डी० इलाहाबाद, 1973 ई०
रामशास्त्री, शकुन्तला	विमिन इन द वैदिक एज, 1956

रंजना कुमारी, जमीला वर्ची — विमिन इन इण्डिया ऐडिएण्ट पब्लिशर्स.

रे, एच० सी० — द डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, 2 वाल्यूम मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिकेशन्स प्रा० लि०, कलकत्ता, 1976.

राधाकृष्णन एस० — द हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, जार्ज एलनस अनविन लंदन.

राधाकृष्णन, एस० — धर्म और समाज, राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली.

राय, एस०सी० — अर्ली हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ कश्मीर, कलकत्ता, 1957, दिल्ली, 1970.

राय चौधरी, एच० सी० — दि डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया कलकत्ता, 1931, पुनर्मुद्रण नई दिल्ली, 1973.

राय, यू० एन० — गुप्त राजवंश तथा उनका काल, इलाहाबाद, 1979.

वाजपेयी, रामनारायण — पुनर्विवाह सिद्धान्त, भारतीय पुस्तकालय, दिल्ली

व्यूलर, जी० — द लाज आफ मनु, आक्सफोर्ड, 1886 ई०

वेदालंकार, हरिदत्त — हिन्दू परिवार मीमांसा, नई दिल्ली, 1954 ई०

वेडर, सी० — विमिन इन एन्श्येण्ट इंडिया, लन्दन, 1925 ई०

वेस्टमार्क — द ओरिजन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑव द मॉरल आइडियाज, लन्दन, 1917।

वीमन, जी० वी० — आन द सोर्स आफ द धर्मशास्त्राज आफ मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, लिपजिंग, 1894.

विद्यासागर, ईश्वरचन्द्र — मैरिज ऑफ हिन्दू विडोज, के० के० वागची, कलकत्ता, 1905.

विन्टरनित्ज, — हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग 1, कलकत्ता, 1927.

विलियम्स, मोनियर — ए संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी, दिल्ली, 1984

विश्नोई, एस — इकोनामिक स्टेट्स आव विमिन इन एन्शियेण्ट इण्डिया, भाग 2 कुसुमांजलि प्रकाशन, मेरठ, 1987.

वैद्य, सी० वी० — महाभारत मीमांसा, ज्ञान मण्डल काशी.

सरकार, वी० सी० — इम्पोज्स इन हिन्दू लीगल हिस्ट्री, होशियारपुर, 1958.

सिंह, रामधारी — संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1973.

सिंह, रमा — शिक्षित हिन्दू महिलायें एवं धर्म, वी० आर० पब्लिशिंग कार्पोरेशन डिविजन आव वी० के० पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, प्रा० लि० दिल्ली, 1988.

शर्मा, वी० एन० — सोशल लाइफ आफ नार्दन इण्डिया, मुंशी मनोहर लाल, दिल्ली.

शर्मा, परीक्षित दास — विधवा-विवाह खण्डन, द्वितीय खण्ड, कटक प्रिंटिंग प्रेस, 1934.

शर्मा, आर० के० — द कल्चुरिज एण्ड देयर टाइम्स

शर्मा, राम शरण — पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन दिल्ली, 1975.

प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993.

भारतीय सामन्तवाद, कलकत्ता, 1965.

शर्मा, आर० एन० — एन्श्येन्ट इण्डिया एकार्डिग टू मनु, दिल्ली 1980.

राजस्थान थ्रू द एजेज, बीकानेर, 1996.

शर्मा, दशरथ — अर्ली चौहान डाइनेस्टीडज, प्रकाशन बुक्स ट्रेसर जोधपुर, 1992.

	चौहान सम्राट पृथ्वीराज III एवं उसका युग, प्र० सं० राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972.
शास्त्री, नेमीचन्द	गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1968.
शास्त्री, श्रीनिवास	राइट एण्ड स्टेट्स ऑव विमिन इन इंडिया, मद्रास, 1956.
शास्त्री, शाकन्तुलराव	विमिन इन सेकेण्ड ला, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1970.
हरदेवी	स्त्रियों पर सामाजिक अन्याय, शादीलाल वर्मा इलाहाबाद 1892.
हाजरा, आर० सी०	पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स ढाका, 1940.

❑❑